# इतिहास और परम्परा

(1)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जन्म शताब्दी वर्ष में 1984 ई० में देश भर में संगोष्ठियाँ हुईं। उनके नाम से प्रायः सभी स्तरीय पत्रिकाओं ने विशेषांक प्रकाशित किए। चर्चाएँ हुईं। विशेष-विशेष पुस्तकें भी छपी हैं। अपनी योजना के अनुरूप मैंने भी एक पुस्तक तदर्थ लिखी थी 'भाव, उद्वेग और संवेदना'। उक्त पुस्तक उसी वर्ष नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। उक्त वर्ष में मैं संगोष्ठियों में सम्मिलित हुआ हूँ। कुछ आलेख संगोष्ठियों में पढ़े और कुछ विशेषांकों के निमित्त लिखे। प्रस्तुत पुस्तक इसी का परिणाम है।

(2)

सन् 1982 ई० में डॉ० नामवरसिंह की पुस्तक 'दूसरी परम्परा की खोज' प्रकाशित हुई। उक्त पुस्तक में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की परम्परा को शुक्लजी की परम्परा से अलग कर उनके साहित्यिक कार्य का मूल्यांकन किया
। इस व्याज से शुक्लजी की परम्परा का उल्लेख न चाहने पर भी हो गया।
ज़ी की परम्परा तो चल रही है। उससे हटकर अलग परम्परा पर विचार
। से शुक्लजी की [illegible]

वालो ने शुक्लजी की शक्ति को और उनकी दृढता को ठीक से पहचाना है। परम्परा को नकारने मे परम्परा के बल का ज्ञान होता है। शुक्लजी के ऐतिहासिक निर्णयो से कई विद्वान जूझे हैं और जूझ रहे हैं। कई नाम हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'हिन्दी साहित्य . बीसवी शताब्दी' पुस्तक मे—अपने तीन आलेखो मे—बहुत पहले शुक्लजी का विरोध किया था। 'सूरसागर' के सम्पादन का कार्य शुक्लजी से नही हो सका था। उसे वाजपेयी जी ने पूर्ण किया। छायावाद को स्थापित करने मे वाजपेयीजी का योगदान ऐतिहासिक है। आचार्य शुक्ल से अपना पथ अलग बनाते हुए भी वाजपेयी जी ने शुक्लजी की परम्परा को आगे बढाया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तो शुक्लजी के लेखन को प्रकाश मे लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। जो कृतियाँ शुक्लजी के जीवन काल मे छप नही सकी, उसे प्रकाशित करने का काम मिश्रजी ने किया है। 'सूरदास', 'रस मीमासा' तथा 'चिन्तामणि भाग 2' का सम्पादन मिश्रजी ही ने किया है। यही नही रीतिकाल के प्रधान कवियो की ग्रथावलियो को प्रकाश मे लाने मे मिश्रजी आजीवन कार्य करते रहे हैं। 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग 1, तथा भाग 2, जैसे ग्रथ लिखकर मिश्रजी ने शुक्लजी की परम्परा को आगे बढाया है। इस तरह अलग-अलग क्षेत्रो मे अलग-अलग कार्य विद्वान करते रहे हैं। इन सब कार्यों को शुक्लजी के कार्य के परिप्रेक्ष्य मे परखा जाना चाहिए। कबीर के सम्बन्ध मे हो या केशव के सम्बन्ध मे हो जो विद्वान अपने कार्य के साथ आगे आए, उनके सामने आचार्य शुक्ल की परम्परा रही है और इस परम्परा को विद्वानों ने स्वीकार किया है। शुक्लजी ने अपने इतिहास मे कवियों तथा लेखको के सम्बन्ध मे जो निर्णय दिये वे ऐतिहासिक निर्णय माने गये हैं। सक्षेप मे इतिहास के जनक आचार्य शुक्ल ने अनकहे ही अपनी परम्परा स्थापित कर दी जिससे बाद मे विद्वानों को उस परम्परा से जूझना पडा है।

(4)

परम्परा की बात इसलिए भी चल पड़ी कि सन् 1982 ई० में डॉ० नामवरसिंह की पुस्तक 'दूसरी परम्परा की खोज' प्रकाशित हो गई। यद्यपि उक्त पुस्तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी के ऐतिहासिक कार्य का मूल्यांकन करती है तथापि उक्त कार्य के लिए उन्हें आचार्य शुक्ल से अलगाना पड़ा है। शुक्लजी के पथ से आचार्य द्विवेदीजी का पथ अलग है, यह सिद्ध करना पड़ा है। पुस्तक अपनी जगह उत्तम होने पर भी आचार्य शुक्ल की ओर इस पुस्तक ने अपना ध्यान खींचा है। यदि यह दूसरी परम्परा है तो पहली परम्परा क्या है, इस ओर ध्यान गया है। आचार्य शुक्ल के शताब्दी वर्ष में यह पुस्तक बहुत चर्चित रही है। अनजान में ही क्या शुक्लजी को पहचानने के प्रयत्न नहीं हुए ? हुए हैं। स्वयं प्रस्तुत पुस्तक भी तो इसी का परिणाम है

(5)

आचार्य शुक्ल मेरे प्रिय लेखक रहे हैं। इसके कई कारण हैं। उनकी कृतियों में मैंने उनकी शक्ति को या दृढ़ता को कहिए पहचानने का प्रयत्न किया है। मुझे लगा कि ज्ञान के क्षेत्र में जिस पवित्रता की आवश्यकता होती है, उस ओर शुक्लजी नियमित रूप में अग्रसर दिखलाई देते रहे हैं। व्यक्ति से अधिक महत्व शुक्लजी ने विषय को दिया है। विषय को परिपूर्ण बनाने में वे जीवन भर साधना करते रहे हैं। उनकी साधना को पहचानना हो तो 'रस-मीमांसा' पुस्तक पढ़ना चाहिए। उक्त पुस्तक में 'निबन्ध', 'समीक्षा', 'इतिहास' तथा 'काव्यशास्त्र' सब एक साथ कच्ची सामग्री के रूप में मिलेंगे। शुक्लजी के निर्माण की कथा उक्त पुस्तक में है। शुक्लजी की विद्वत्ता के स्वप्न उस पुस्तक में हैं। कई ऐसी टिप्पणियाँ हैं, जिनका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता है। उक्त पुस्तक को क्रम देने में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बहुत श्रम किया है। अपनी योजना के अनुसार आचार्य शुक्ल पूरी पुस्तक लिख कहाँ पाए हैं ? इतिहास तो उनसे लिखवाया गया और वह कितनी शीघ्रता में लिखा गया है इस तथ्य को जानने के बाद ही तो हमारा मूल्यांकन ठीक हो सकता है। उनके इतिहास की सामग्री से अधिक महत्त्वपूर्ण उनके ऐतिहासिक सिद्धान्त हैं। जो व्यक्ति सिद्धान्तों में दृढ़ रहता है, उसकी परम्परा बलवान होती है। शुक्लजी के सिद्धान्तों से जूझना ही तो कठिन कार्य है। उनकी सामग्री को उनके सिद्धान्तों से अलग कर उनकी बौद्धिक क्षमता पर विचार करेंगे तब आप आचार्य शुक्ल को ठीक-ठीक पहचान पायेंगे। शुक्लजी ने अपने इतिहास-लेखन में जिस सामग्री का उपयोग किया, उस सामग्री को लेकर विवाद हुआ है और वह ठीक भी है किन्तु सिद्धान्तों को लेकर ऐसा कम हुआ है। सिद्धान्तों में दृढ़ रहने के कारण ही आचार्य शुक्ल की परम्परा बलवती हुई है।

(6)

इस पुस्तक के लेखन की कुछ कथा लिखता हूँ। 19 मार्च 1984 ई० को मैं किसी कार्य से हैदराबाद गया था। उक्त तिथि की रात्रि में डॉ० चन्द्रभान रावत के निवास स्थान पर पहुँचा। रात में उनके साथ बहुत देर तक साहित्यिक चर्चा हुई। आचार्य शुक्ल को लेकर बात हुई। डॉ० रावतजी ने कहा कि दूसरे दिन (20 मार्च को) विभाग में डॉ० शिवकुमार मिश्र का व्याख्यान है। उसी समय शुक्लजी पर छोटा-सा व्याख्यान दे सकते हो। मैंने स्वीकृति दी। घर पर होता तो तैयारी करता। समय ही कहाँ ? मैंने डॉक्टर साहब से कागज माँग लिए। सवेरे चार बजे उठकर अपना व्याख्यान लिख डाला। शीर्षक दिया—'कितने नये, कितने पुराने।' 20 मार्च 1984 को डॉ० शिवकुमार मिश्रकी अध्यक्षता में दोपहर हुआ, उसमें मैंने अपना व्याख्यान पढ़कर सुनाया। बाद में नागरी

से ही तथ्य निर्माण होता है, समीक्षा होती है और सिद्धान्त भी तदनुसार बनते हैं। इस 'चयन' को कहने वाले पूर्वाग्रह भी कहना चाहें तो कह सकते हैं। किन्तु क्या शुक्लजी का चयन आचार्यत्व की क्षमता से किया हुआ चयन नहीं है? क्या उनके चयन ने उन्हें आचार्य नहीं बना दिया। उनके चयन ने उनको ज्ञान गरिमा का पद दिया है। शुक्लजी ने अपने लेखन में जो आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखी हैं, वे विषयपरक अधिक हैं और वस्तु मूलक हैं और वे ऐसी हैं जिनका महत्त्व ज्ञान का पथ प्रशस्त करने के लिए है। ऐसा व्यक्ति इतिहास लिखता है तो उसकी परम्परा अपने आप बलवान बनती है। आचार्य शुक्ल की क्षमता का कोई व्यक्ति और सामने आए तो सन् 1929 से 1986 तक का इन 57 वर्षों का इतिहास ठीक उसी ताकत से लिख सकता है। शुक्लजी की परम्परा को ठीक इतिहास के बदलते क्रम में प्रस्तुत किया जाए तो शुक्लजी की परम्परा आगे बढ़ेगी। प्रस्तुत पुस्तक 'इतिहास और परम्परा'—शुक्लजी के पथ को पहचानने का प्रयत्न मात्र है।

(8)

पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन का विश्वास नहीं था किन्तु स्वयं श्री मूलचद जी गुप्ता दो बार औरंगाबाद आए और पहली बार जब मैंने प्रस्ताव किया तो उन्होंने स्वीकार किया। जयपुर से पत्र भी लिखा और दूसरी बार आने पर शीघ्र पाण्डुलिपि देने के लिए आग्रह किया तो कलम चल गई। ये अन्तिम पंक्तियाँ मूलचदजी गुप्ता की उपस्थिति में ही लिखी गयी हैं। इस नाते प्रकाशक का अपना जो श्रेय होना है, उसे स्वीकार करता हूँ। पुस्तक पर विवाद हुआ और कुछ प्रश्न सामने आए तो विचार करूँगा। इस पुस्तक मे जिनके नाम आए हैं, वे सभी महत्त्वपूर्ण हैं, इतना कहता हूँ। जिज्ञासु विद्वान् पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हुए अपना निवेदन समाप्त कर रहा हूँ।

5, मनीषा नगर, केसरसिंह पुरा
औरंगाबाद 431005, (महाराष्ट्र) राजमल बोरा
6 मई 1986 ई०

# 1 इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल

### 1.1 इतिहासकार : इतिहास का अंग

इतिहासकार स्वयं इतिहास का अंग होता है। इस रूप में इतिहासकार को व्यक्तित्व रूप में जाने बिना इतिहास पर विचार करना अधूरा हो सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को व्यक्ति रूप में पहचानने के प्रयास अब तक कम ही हुए हैं। व्यक्ति रूप में पहचान के अभाव के कारण, उनके द्वारा लिखे गये हिन्दी साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। शुक्लजी के व्यक्ति रूप से परिचित हो जाएँ तो उनके द्वारा लिखित इतिहास के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर आ सकता है। इसलिए आचार्य शुक्ल का व्यक्ति रूप में परिचय यहाँ दे रहा हूँ।

### 1.2 इतिहास लेखन का काल : 1926-1928 ई०

आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में 'हिन्दी साहित्य का विकास' लिखा। इसीका प्रकाशन 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के रूप में बाद में अलग से हुआ। इसके प्रकाशन का कच्चा चिट्ठा चन्द्रशेखर शुक्ल द्वारा लिखित पुस्तक 'रामचन्द्र शुक्ल' पुस्तक में 'जीवन संग्राम' अध्याय में प्रकाशित है।[2] 1929 ई० में यह इतिहास प्रथमतः प्रकाशित हुआ है। 1922 ई० में नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा इसके लिखे जाने की योजना बनी थी। और इसका प्रथमतः प्रकाशन 1929 में हुआ। अतः इतिहास लेखन का काम 1922 ई० से 1929 ई० तक फैला हुआ है। जनवरी 1929 में यह छप चुका था। अतः— छपाई का एक वर्ष छोड़ दें—इसका लेखन 1928 तक ही मानना चाहिए। ठीक से देख तो इतिहास 1926 से 1928 ई० के बीच निरन्तर लिखा जाता रहा है। इतिहास का मूल स्वरूप इन्हीं दिनों में बना है। वैसे तो इसके प्रकाशन के बाद इसमें संशोधन परिवर्द्धन का काम निरन्तर—आचार्य शुक्ल की मृत्यु होने तक—चलता रहा है। आचार्य शुक्ल की इच्छानुसार 1929 ई० के बाद में संशोधन-परिवर्द्धन पूरी तरह नहीं हो सका है। यों [illegible] इस लेखन का काल विस्तार

1922 ई० से आचार्य शुक्ल की मृत्यु तक 1941 ई० तक—व्याप्त दिखलाई देता है। किन्तु हमे मूल ढांचे के रूप मे 1929 ई० को ही सीमा मानना चाहिए ।

### 1 3 काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आचार्य शुक्ल की नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे 1919 ई० मे मालवीय जी ने की थी। उस समय से अन्त तक 1941 ई० तक वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे हिन्दी का अध्यापन करते रहे हैं। विश्वविद्यालय की आवश्यकता को शुक्लजी अनुभव करते रहे। लिखा है—

> "इधर जब से विश्वविद्यालय मे हिन्दी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तब से उसके साहित्य के विचार-शृ खला-बद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र अध्यापक दोनो कर रहे थे।"[2]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे रहते हुए ही उन्होंने यह कार्य पूर्ण किया है। इस कार्य से जुड़े अन्य व्यक्तियों में बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम प्रधान है।

### 1 4 बाबू श्यामसुन्दर दास

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' के सृजनकाल तथा प्रकाशन काल मे बाबू श्यामसुन्दर दास व्यक्ति रूप में जुड़े हुए हैं। इतनी बात सच है कि दोनों का सम्बन्ध इस पुस्तक के कारण—हिन्दी साहित्य का इतिहास के कारण—1928 ई० मे अर्थात् पुस्तक के प्रकाशन काल मे—बिगड गया और अन्त तक पूर्ववत् नही हो सका। चन्द्रशेखर शुक्ल ने लिखा है—

> "बाबू श्यामसुन्दरदास जी के हृदय मे गड़ा हुआ प्रस्तावना रूपी काँटा जो अन्त तक न निकल सका। और वे एक ही मील पर रहते हुए भी उनकी अंत्येष्टि मे सम्मिलित न हुए।"[3]

कहना यह है कि इतिहास की रचना ने दोनो विद्वानो के वैयक्तिक सम्बन्धो को प्रभावित किया है। इतिहास लिखने में आचार्य शुक्ल ने अपूर्व श्रम किया और उनकी इच्छा रही कि इस रचना के साथ उनका ही नाम रहना चाहिए। बाबू साहब के विरोध को सहकर उन्होंने अपनी इच्छा पूरी की है। किस रूप में आचार्य शुक्ल इस इतिहास के साथ अधिक जुड़े हुए हैं। आचार्य शुक्ल के पुत्र श्री गोकुलचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है—

> "शुक्लजी बहुत संकोची थे, इसलिए इसके पूर्व भी अपना नामाकन न होने पर वे चुप रह जाया करते थे किन्तु मेरी माताजी ने घर मे उपद्रव मचा दिया। मेरे सौतेले चाचा जगदीशचन्द्र और चचेरे भाई चन्द्रशेखर इस समय हमारे साथ थे। हम तीनो ने मिलकर माताजी [illegible] में आकर बैठ गये। बारह घण्टे लगातार

> हम लोग बैठे रहे। मैंने जब यह बात बताई कि बाबू श्यामसुन्दर दास ने साथ देने को बार बार कही थी। इसलिए शिवजी ने इन्हें साथ इनकी भेज रखा था। शुक्लजी का नाम जब मुद्रित हो गया, तब हम लोग प्रेस से बाहर आए। जगदीश ने आगे बढ़कर शुक्लजी को यह खबर दी। वे 'हूँ' कहकर दूसरे काम में लग गये। किन्तु उनकी माताजी की प्रसन्नता देखते ही बनती थी।"[4]

बाबू श्यामसुन्दरदास यह सब होने पर भी शुक्लजी की विद्वत्ता, शुक्लजी के चरित्र और शील की सराहना मुक्त कंठ से करते हैं। लिखा है—

> "इनके लेखों में इनके अपने स्वतन्त्र विचार रहते हैं। वे गूढ़ और जटिल हैं तथा उच्च शिक्षा के बड़े काम के हैं। शुक्लजी विचार-गांभीर्य के लिए प्रसिद्ध हैं।"
>
> "शुक्लजी का चरित्र निर्दोष और स्वभाव सरल था। सरलता और संकोच की मात्रा इतनी बढ़ी हुई थी कि स्वार्थी और कुचक्री लोग इनके पीछे पड़कर अपना काम निकाल लेते थे, भले ही वह उनकी रुचि और आत्मा के विरुद्ध हो।"[5]

सच तो यह है कि 'इतिहास-लेखन' के सृजन में तथा प्रकाशन में आचार्य शुक्ल को द्वन्द्वात्मक स्थितियों से गुजरना पड़ा है।

### 1.5 बीसवीं शती का तीसरा दशक

'हिन्दी साहित्य इतिहास' तीसरे दशक की उपलब्धि है। इसी दशक में यह लिखा गया और प्रकाशित भी हुआ। व्यक्तिगत रूप में भी देखें तो इसी दशक में आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—को केन्द्र में रखकर आचार्य शुक्ल की अन्य रचनाओं पर विचार करें तो इतिहास के आयाम अधिक स्पष्ट हो सकते हैं। इसी दशक में जायसी, तुलसी तथा सूरदास—कवियों की कृतियों का सम्पादन शुक्लजी करते रहे हैं और साथ-साथ इन कवियों की समीक्षाएँ भी उन्होंने लिखी हैं। शुक्लजी के समीक्षात्मक लेखन को उनके इतिहास से मिलाकर देखना आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के इन श्रेष्ठ कवियों ने शुक्लजी के साहित्यिक विवेक को समृद्ध किया है।

बीसवीं शती का तीसरा दशक भारतीय इतिहास में गांधीजी का दशक भी है। राष्ट्रीय आन्दोलन भी इस समय में गतिशील रहे हैं। लोकमान्य तिलक का प्रभाव भी इस दशक में व्याप्त रहा है। देश में स्वाधीनता संग्राम के प्रयत्न अलग-अलग शक्तियों के द्वारा अलग-अलग रूप में जारी रहे हैं। इस चेतना में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी लिखा जा रहा था।

## 1.6. शुक्लजी की अन्तर्यात्रा

शुक्लजी के इतिहास मे शुक्लजी की अन्तर्यात्रा है। व्यक्ति रूप मे शुक्लजी इतिहास लिखते समय साहित्यिक जगत की यात्रा करते रहे हैं। उनकी यह यात्रा साहित्यिक विवेक के संदर्भ मे होती रही है। इस यात्रा का प्रयोजन साहित्यिक पुनरुत्थान है। हिन्दी साहित्य को स्वायत्तता प्रदान करने हेतु शुक्लजी ने पुनरुत्थान का यह काम किया। साहित्य के पाश्चात्य चिन्तन से परिचित रहते हुए भी शुक्लजी ने अपना विवेक जाग्रत रखा और इतिहास-लेखन को पाश्चात्य विचारों से मुक्त रखकर भारतीय विचारों को ही समकालीन संदर्भ मे [तीसरे दशक के] व्यक्त किया। 17 अक्तूबर 1939 के एक भाषण मे आचार्य शुक्ल कहते हैं—

> "आप इसमें साहित्य सम्बन्धिनी स्वतन्त्रता का ऐसा भाव जगा दें कि हम योरप में हर एक उठी हुई बात की ओर लपकना छोड़ दें, समझ-बूझकर उन्हीं बातों को ग्रहण करें जिनका कुछ स्थायी मूल्य हो, जो हमारी परिस्थिति के अनुकूल हों। योरप की दशा तो आजकल यह हो रही है कि वहाँ जीवन के हर एक विधान मे उसे धारण करने वाला शाश्वत तत्त्व निकालना जा रहा है। क्या राजनीति, क्या समाज, क्या साहित्य सब डगमगा रहे हैं। रूस के बोल्शेविकों की बात सुनिए तो वे बड़ी उपेक्षा से अब तक के सारे साहित्य को ऊँचे वर्ग के लोगों का साहित्य बताकर बढ़ैयों, लोहारों और मजदूरों के साहित्य का आसरा देखने को कहेंगे। जर्मनी की ओर दृष्टि दौड़ाइए तो वहाँ केवल नात्सी सिद्धान्तों का समर्थक साहित्य ही सिर उठा सकता है। फ्रायड साहब अभी मरे हैं जिनकी समझ में स्वप्न भी हमारी अतृप्त वासनाओं के तृप्तिविधान के छायामय रूप हैं और काव्यादि कलाएँ भी हमारी अतृप्त कामवासनाओं की तृप्ति के विधान हैं। अब हमारे समझने की बात यह है कि क्या हमें इन सब बातों को ज्यों-का-त्यों लेते हुए अपने साहित्य का निर्माण करते चलना चाहिए अथवा संसार के भिन्न-भिन्न देशों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की समीक्षा करते हुए अपनी बाह्य और आभ्यन्तर परिस्थिति के अनुसार उसके लिए स्वतन्त्र मार्ग निकालते रहना चाहिए।"[8]

स्पष्ट है कि शुक्लजी हिन्दी साहित्य को पश्चिमी प्रभावों से मुक्त रखना चाहते थे। शुक्लजी की साहित्य जगत् की यह अन्तर्यात्रा भारतीय मानस की पहचान कराने में समर्थ है। साहित्य के इतिहास के माध्यम से उन्होंने हिन्दी साहित्य को स्वतन्त्र रूप देने का प्रयत्न किया है। हिन्दी साहित्य की यह पहचान आज भी हमें विचारोत्तेजक और बलवान प्रतीत होती है।

आचार्य शुक्ल का कथित रूप इतिहास में सर्वाधिक मुखरित है। ...
कारण यह भी है कि आचार्य शुक्ल इतिहास को समीक्षात्मक रूप देते गए ...
समीक्षाओं में निर्णयात्मक परिणामों भी हैं। इतिहासकार के निर्णय से सभी ...
नहीं हो सकते। शुक्लजी के ऐसे निर्णयों को लेकर बाद में प्रतिक्रियाएँ ...
हैं। ये प्रतिक्रियाएँ शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि को लेकर अधिक हु...
कहना यह है कि अपने इतिहास-लेखन में आचार्य शुक्ल अपनी साहि...
मान्यताओं और साहित्यिक अभिरुचियों को आधार बनाकर चलते रहे हैं। कि...
बात यह है कि शुक्लजी अपनी साहित्यिक मान्यताओं को बौद्धिक बाने में प्रस्...
करते हैं। वे तर्क देते हुए लिखते हैं। इसलिए सहज ही में तर्क के द्वारा खण्...
करना सामान्य पाठक के लिए कठिन हो जाता है। आचार्य शुक्ल का लेखन दृ...
और वे बड़े आत्म-विश्वास के साथ लिखते हैं। शुक्लजी नैतिकता के पक्षपाती हैं। ...
इस प्रकार के नैतिक निर्णय उन्होंने अपने इतिहास में दिए हैं। ई० एच० कार ने ...
लिखा है—

> "नैतिकता के साथ इतिहास का संबंध कहीं ज्यादा जटिल है और अतीत में इससे सम्बन्धित परिचर्चाओं में कई तरह की संदिग्धताएँ रही हैं। आज इस बात पर तर्क करना एकदम गैर जरूरी हो गया है कि इतिहासकार को अपने इतिहास में आने वाले चरित्रों के व्यक्तिगत जीवन पर नैतिक फैसले नहीं देने चाहिए। इतिहासकार और नैतिकतावादी के वैचारिक आधार एक नहीं होते।"[7]

शुक्लजी के नैतिक निर्णय इतिहास में विवाद के विषय बने हुए हैं। और सच्चाई यह भी है कि इन नैतिक निर्णयों के कारण ही उनका इतिहास मूल्यवा... भी बना है। शुक्लजी के निर्णय, शुक्लजी के इतिहास की सीमाएँ भी हैं।

## 1.7 राष्ट्रीय अस्मिता से युक्त इतिहास लेखन

आचार्य शुक्ल का इतिहास-लेखन राष्ट्रीय अस्मिता से युक्त है। ब्रिटिश सरकार की नौकरी करने के पक्ष में वे कभी नहीं रहे। शुक्लजी के पिताजी पं० चन्द्रबली शुक्ल कानूनगो थे। मीरजापुर जिले में कलेक्टर विढम साहब थे। 1903 ई० के आसपास की बात है। शुक्लजी उस समय लगभग 19 वर्ष के थे। उस समय जिले का एक नक्शा विढम साहब ठीक करना चाहते थे। पं० चन्द्रबली शुक्ल को उन्होंने नक्शा ठीक करने के लिए दिया था। उक्त नक्शा आचार्य शुक्ल ... ठीक निकाल कर दिया। विढम साहब बहुत खुश हुए। तदनुसार उन्होंने ...क्लजी को नायब तहसीलदार की नियुक्ति की स्वीकृति दिलाई। पिताजी ने ...न कहा किन्तु शुक्लजी सरकारी नौकरी करना ही नहीं चाहते थे। बाद में ...न्होंने एक लेख What has India to do [भारत को क्या करना है] अंग्रेजी

मे लिखा और वह 'दि हिन्दुस्तान रिव्यू' के फरवरी 1907 ई० के अंक मे छपा। यह लेख क्रान्तिकारी प्रमाणित हुआ। इस लेख को पढ़ने के बाद विंढम साहब ने शुक्लजी के पिताजी प० चन्द्रबली शुक्ल को बुलाकर कहा "आपका लड़का क्रांतिकारी हो रहा है। उसे ठीक से सभालिए नहीं तो हाथ से निकल जाएगा।"[8] तात्पर्य यह कि राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान के प्रयत्न शुक्लजी आरम्भ से ही कर रहे थे। अंग्रेजी से सुपरिचित थे किन्तु अपनी भाषा को उत्तम मानते थे।

आचार्य शुक्ल का उक्त लेख What has India to do का हिन्दी अनुवाद [अपूर्वानन्द ने अनुवाद किया] आलोचना के 74 वें अंक मे, जुलाई-सितम्बर 1985 के अंक मे छप गया है। इस लेख के कुछ अंश नीचे उद्धृत कर रहा हूँ—

> "दरअसल हमें समाज-सुधारक, राजनीतिक, आन्दोलनकर्त्ता, कवि और शिक्षाविद्—इन सबकी एक ही साथ, एक ही समय मे, जरूरत है। लेकिन इनसे भी ज्यादा जरूरत हमे ऐसे लोगो की है, जिनका काम यह देखना हो कि किसी विशेष कार्य क्षेत्र मे किसी विशिष्ट अवसर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त लोग हैं या नहीं।"[9]
>
> × × ×
>
> "भारतीय जनमानस को एक सामजस्यपूर्ण धरातल पर लाने मे देशी भाषा के बढ़ते हुए साहित्य की जो भूमिका है उसकी शायद हम उपेक्षा नहीं कर सकते। यहां मैं ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो से सम्बन्धित किसी विस्तार मे जाने की कोई इच्छा नहीं रखता। इतना ही कहना काफी है कि इन क्षेत्रो मे से किसी एक पर हम कितना ध्यान दें, यह तय करने मे समय की आवश्यकताएँ ही हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए।"[10]
>
> × × ×
>
> "जहाँ तक हम देख पाए हैं, साम्राज्यवाद ही भारत मे ब्रिटिश राष्ट्र की नीति की प्रेरक शक्ति रहा है। उन्होंने (ब्रिटिश—अनु०) यह हाल कर रखा है कि भारतीय प्रशासन में उनकी अपनी ब्रिटिश परिकल्पना का एक रेशा भी नहीं दिखाई देता। इसमे शक नहीं कि वे रूप को सुरक्षित रखते हैं, लेकिन वे उस सार-तत्त्व को खत्म कर देते हैं"[11]

ध्यान देने की बात है कि ये विचार शुक्लजी ने 1907 ई० मे प्रकाशित कर दिये थे और वह भी अंग्रेजी भाषा मे। कलेक्टर विंढम साहब ने इन विचारों को पढ़ा था और शुक्लजी के पिताजी को यह कहकर सजग कर दिया था कि अपने क्रान्तिकारी लड़के को संभाल कर रखें।

आचार्य शुक्ल चाहते तो नायब तहसीलदार बन जाते और बाद मे उनकी

राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण बना हुआ था। परम्परा या आधुनिकता? हमारी संस्कृति, साहित्य और राष्ट्र का विकास किस दिशा में होना चाहिए? हम किसके आधार पर, ज्यादा शक्तिशाली बनेंगे? राष्ट्रीय आन्दोलन से उठे इन प्रश्नों ने शुक्लजी के लेखन का परिप्रेक्ष्य तैयार किया।"[14]

श्री वीर भारत तलवार ने यह ठीक लिखा कि राष्ट्रीय आन्दोलन के मामले में शुक्लजी भावनाशील नहीं थे। आचार्य शुक्ल ने बौद्धिक रूप में तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों का विश्लेषण किया और अपने विचारों के अनुसार दृढ़ता के साथ अपना इतिहास-लेखन का कार्य जारी रखा है

### .9. इतिहास अपूर्ण रह गया है।

सन् 1929 ई० में प्रकाशित इतिहास—को आचार्य शुक्ल लगातार संशोधित करते रहे हैं। इस दृष्टि से आधुनिक काल पर लिखी गई टिप्पणियाँ, कुछ संशोधन तथा परिवर्द्धन बाद में प्रकाशित संस्करणों में हुआ भी है। इस तथ्य का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि आचार्य शुक्ल की इच्छानुरूप नई सामग्री का उपयोग पूरी तरह से नहीं हो सका है। आचार्य शुक्ल के पुत्र गोकुलचन्द्र शुक्ल ने 'इतिहास की नियति—शुक्लजी'—शीर्षक लेख में इस ओर संकेत किया है। उक्त लेख हिन्दुस्तानी, शुक्ल अंक जुलाई-दिसम्बर 1983 ई० में छप चुका है। आचार्य शुक्ल हिन्दी में ऐसे अकेले लेखक मिलते हैं जो अपने लेखन को बार-बार परिष्कृत करते रहे हैं। निबन्ध तथा अन्य प्रकार के लेखन को भी जब उन्होंने संशोधित किया है तो इतिहास को वे वैसे ही नहीं रख सकते थे। यह उनके स्वभाव के विपरीत बात लगती है। उनकी संशोधित सामग्री दो बार गायब हो गई। दो बार गायब होने पर भी हिम्मत नहीं हारे। तीसरी बार ठीक किया। तीसरी बार लिखा हुआ अंश भी 150 पृष्ठों से कुछ अधिक ही था। मृत्यु के अवसर पर घरवालों की आँख बचा कर कुछ जानकारों ने वह सामग्री गायब कर दी। अन्त तक सामग्री ठीक से इतिहास में जुड़ ही नहीं पाई।[15] यह सब मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि इतिहास-लेखन में संशोधन-परिवर्द्धन का कार्य निरन्तर जारी रहता है। इतिहास-बोध में काल बदलने से परिवर्तन होता है और नये तथ्य मिल जाए तो उनको क्रम में स्थान देने के लिए पूर्व-मूल्यांकन को बदलना आवश्यक हो जाता है। अपनी सामग्री को नवीनतम रूप देते रहने का काम बौद्धिक रूप में सजग विद्वान ही कर सकता है। हमारे पास आज जो इतिहास उपलब्ध है, वह सन् 1941 ई० के अनुसार नहीं है। 1929 ई० के बाद कम-से-कम तीन बार संशोधित करने के प्रमाण हमारे पास उपलब्ध हैं, जिसका उपयोग इतिहास में नहीं हो सका है। एक दशक के बीच ही लेखक ने इतिहास बदलकर लिखना आवश्यक समझा तो आज

की स्थिति में आज की नई सामग्री के परिप्रेक्ष्य मे शुक्लजी कितना परिवर्तन करना चाहते, यह विचारने की बात है। शुक्लजी का इतिहास आज [1986—1929=57] 57 वर्षों के बाद भी हमें आकृष्ट करता है, तो उसका एक बड़ा कारण यह भी है कि उसमे अपने युग की आवश्यकताए सोद्देश्य मौलिक चिन्तन से युक्त है। शुक्लजी का इतिहास चिन्तन गतिशील होते हुए अपने में दृढ़ भी है। उनकी गतिशीलता को पहचानने के प्रयास होने चाहिए। हम शुक्लजी को बौद्धिक रूप मे जितना जानते हैं, उतना उनके निजी मानवीय व्यक्तित्व के आलोक में नही जानते। व्यक्ति रूप मे शुक्ल को पहचान कर उनके इतिहास को पढ़ा जाएगा तो हमे युग को समझने मे नई दृष्टि मिल सकती है। उनका इतिहास उनकी दृष्टि मे अपूर्ण होते हुए भी हमारे लिए वह आलोक स्तम्भ है।

□□□

# 2. इतिहास के तथ्य

## 2.1 साहित्य के इतिहास के तथ्य

साहित्य के इतिहास-लेखन के लिए तथ्य क्या हो सकते हैं ? निश्चित ही हमारा ध्यान कवियों और उनकी रचनाओं की ओर जाएगा। ठीक-ठीक कहें तो साहित्यकार और उनकी कृतियों का उपयोग तथ्यों के रूप में साहित्य के इतिहास-लेखन में होगा। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल के पूर्व तथ्यों के सकलन का काम हुआ है। तथ्यों के सम्बन्ध में ई० एच० कार लिखते हैं—

> "इतिहास के तथ्य हमें कभी शुद्ध रूप में नहीं मिलते क्योंकि शुद्ध रूप में वे न रहते हैं और न रह सकते हैं, वे हमेशा लेखक के मस्तिष्क में रगकर आते हैं। बाद में जब इतिहास का कोई कार्य शुरू करते हैं तो हमारा ध्यान सबसे पहले उसमें प्राप्त तथ्यों पर केन्द्रित नहीं होना चाहिए बल्कि उस इतिहासकार पर होना चाहिए जिसने उसे लिखा है।[15]

इस नाते 'साहित्य के इतिहास' के तथ्यों पर विचार करते समय हमें तथ्यों के चयनकर्त्ताओं पर विचार करना चाहिए। प्रस्तुत में हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—के तथ्यों पर विचार कर रहे हैं। प्रश्न है—क्या आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास-लेखन के लिए तथ्य-सकलन का काम किया था ? सर्वेक्षण के रूप में तथ्यों को एकत्रित करने का काम लगता है, आचार्य शुक्ल ने किया ही नहीं। तथ्यानुसन्धान के लिए आचार्य शुक्ल के पास समय ही कहाँ था ?

## 2.2. सर्वेक्षण : तथ्य-संकलन

आचार्य शुक्ल ने इतिहास-लेखन के लिए जिस सामग्री का उपयोग किया है, उसका उल्लेख प्रथम सस्करण के वक्तव्य में हुआ है। उक्त वक्तव्य के आधार पर तथ्य-संकलन के लिए या सर्वेक्षण के रूप में जिस सामग्री का उपयोग हुआ है, वह निम्नलिखित है—

☐ शिवसिंह सरोज, ठाकुर शिवसिंह सेंगर 1883 ई०

- 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान', डाक्टर (सर) ग्रियर्सन, 1889 ई०
- 1900 ई० से 1911 ई० तक आठ खोज रिपोर्टें काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने तैयार करवाई थी। इन सभी का उपयोग आवश्यकतानुसार किया गया है।
- मिश्रबन्धु विनोद, गणेश बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र और श्याम बिहारी मिश्र, सन् 1913 ई०।
- हिन्दी कोविद रत्नमाला, रायसाहब बाबू श्यामसुन्दर दास
- कविता कौमुदी, प० रामनरेश त्रिपाठी
- ब्रजमाधुरीसार, श्री वियोगी हरिजी[14]

यह सारी सामग्री काशी नागरी प्रचारिणी सभा में उपलब्ध थी। शुक्लजी को सामग्री-संकलन के लिए कहीं जाना नहीं पड़ा है। हस्तामलक और सहज उपलब्ध सामग्री का ही उपयोग शुक्लजी के इतिहास में हुआ है। तथ्यानुसंधान का काम मिश्रबन्धुओं ने अधिक किया है। खोज रिपोर्टों का उपयोग मिश्रबन्धुओं ने जितना किया, उतना शुक्लजी ने किया ही नहीं। आचार्य शुक्ल को संदेह होता या किसी तथ्य को देखना आवश्यक प्रतीत होता, तब वे खोज रिपोर्ट पलट कर देखते। खोज रिपोर्ट का पूरा-पूरा उपयोग इतिहास-लेखन में होना चाहिए, इस दृष्टि से शुक्लजी ने खोज रिपोर्टें देखी ही नहीं है। इस नाते मिश्रबन्धुओं के [illegible] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तुलना करना उचित हो सकता है।

## 2.3 मिश्र बन्धु और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

ान रूप से मिलते हैं।[18] इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
इतिहास में लगभग आधे नामों से कुछ अधिक [382 नाम] ऐसे हैं जिनका
लेख मिश्रबन्धु विनोद में नहीं है। इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि [4552—
2 = 4190] 4190 नामों का उपयोग शुक्लजी ने किया ही नहीं है। अर्थात्
ाभग 14 गुना से कुछ अधिक सामग्री का उपयोग शुक्लजी ने किया ही नहीं है।
हाँ मैं मिश्रबन्धुओं के द्वारा किए गए श्रम के सम्बन्ध में यह कहना चाहूँगा कि
थ्यों के संकलन, सर्वेक्षण, तथा उनके वर्गीकरण आदि के संबंध में जिस निष्ठा
ी आवश्यकता होती है, वह पूरी निष्ठा मिश्रबन्धुओं में मिलती है। लगता है,
पलब्ध तथ्यों का अधिकतम उपयोग करने का प्रयत्न मिश्रबन्धुओं ने किया है।
स्तुत. मिश्रबन्धुओं ने उपलब्ध तथ्यों को काल-क्रम में वृत्त देते हुए [आचार्य
ुक्ल कवि-वृत्त कहते ही हैं] प्रस्तुत किया है। मिश्रबन्धुओं ने ग्रन्थकारों, रचयि-
ाओं या कवियों की संख्याएँ क्रमश: दी हैं। इस तरह की क्रम संख्याएँ शुक्लजी के
तिहास में नहीं दी गई हैं। शुक्लजी के इतिहास में क्रमसंख्याएं कहीं मिलती हैं,
हीं नहीं मिलती। वीरगाथा में 7 संख्याएँ हैं, फुटकल में 8 और 9 हैं। ये 8 और

तीव्र आलोचनाएँ हुई हैं। बात यह है कि तथ्य सम्बन्धी भूलें बहुत हो गई हैं। ऐसी बात नहीं कि स्वयं आचार्य शुक्ल इन भूलों से परिचित नहीं थे। जानते हुए भी उन्होंने ऐसे तथ्यों का उपयोग कर लिया है। तथ्यों की प्रामाणिकता की जाँच में शुक्लजी गए ही नहीं। यदि वे जाँच करने बैठते तो संभवतः इतिहास पूरा लिखा ही नहीं जाता। तथ्यों की प्रामाणिकता के संबंध में वे शिवसिंह सेंगर तथा मिश्रबन्धु विनोद पर अधिक निर्भर रहे हैं। लिखा भी है—

> "पहले कहा जा चुका है कि प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य—जैसे, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो—आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें सन्तोष करना पड़ता है।[19]

यह तो वीर गाथा काल की सामग्री के सम्बन्ध में लिखा। रीतिकालीन सामग्री के संबध में लिखते हैं—

> "कवियों के [रीतिकालीन] परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः मिश्रबंधु विनोद से ही लिए हैं। कहीं-कहीं कुछ कवियों के विवरणों में परिवर्तन और परिष्कार भी किया है; जैसे ठाकुर, दीनदयालगिरि, रामसहाय और रसिक गोविंद के विवरणों में। यदि कुछ नाम छूट गए या किसी कवि की किसी मिली हुई पुस्तक का उल्लेख नहीं हुआ तो इससे मेरी कोई बड़ी उद्देश्य हानि नहीं हुई। इस काल के भीतर मैंने जितने कवि लिए हैं या जितने ग्रंथों के नाम दिये हैं, उतने ही जरूरत से ज्यादा मालूम हो रहे हैं।"[20]

मिश्रबन्धुओं के साथ-साथ शिवसिंह सेंगर के शिवसिंह सरोज की सामग्री का भी उपयोग आवश्यकतानुसार किया है। परिचयात्मक विवरण ही नहीं अपितु तिथियों के निर्णय को बहुत से स्थानों पर यथावत् स्वीकार कर लिया है। इतिहास में तथ्यों को पवित्र माना जाता है। तथ्यों के बल पर ही इतिहास ठीक-ठीक लिखा जाता है। इस ओर अधिक ध्यान न देने के कारण शुक्लजी का इतिहास अधिक विवादास्पद हुआ भी है। तथ्यों को प्रामाणिक मान लें तो फिर इतिहास सर्वोत्तम हो जाता है।

## 2.5 तथ्यों की उपेक्षा क्यों हुई ?

आचार्य शुक्ल के इतिहास में तथ्यों की उपेक्षाएँ बहुत हुई हैं। आगे इस पर विचार हो ही रहा है किन्तु यहाँ पर यह कहना है कि इस उपेक्षा के कारण क्या हो सकते हैं ? स्पष्ट बात है कि समय की सीमा के भीतर यह काम जल्दी में पूरा करना था। इस बात का उल्लेख वक्तव्य में शुक्लजी ने किया ही है।[21] दूसरा कारण यह है कि तथ्यों के अन्वेषण में शुक्लजी प्रवृत्त ही नहीं हुए। जो तथ्य उन्हें

सुलभ थे, उन्हीं को आवश्यकता से अधिक मान लिया। इस बात को रीतिकाल के प्रसंग में उन्होंने स्वीकार किया ही है।[22] शुक्लजी को तथ्यों के प्रति विशेष मोह नहीं था। इतिहास में तथ्यमूलक तालिकाएँ बहुत ही कम स्थानों पर दी हैं। अपभ्रंश काल में 84 सिद्धों के नाम एक साथ दिये गए हैं। तुरन्त टिप्पणी लिख दी—

> "इसी सूची के नाम पूर्वापर कालक्रम से नहीं हैं। इनमें से कई एक समसामयिक थे।

ऐसे ही अन्य स्थानों पर किया है। भक्तिकाल की फुटकल रचनाओं के अन्त में आख्यान काव्यों की तालिका इसी तरह दी है। तालिका में तथ्यपरक जानकारी पूरी नहीं है। तालिका में किसी का नाम-मात्र भी दे देना बाद में महत्त्वपूर्ण मान लिया गया है। तथ्य और आँकडो का अपना महत्त्व होता है। इतिहास इनके अभाव में लिखा ही नहीं जा सकता। तथ्यानुसधान तथा तथ्याख्यान में आचार्य शुक्ल का ध्यान तथ्याख्यान में अधिक रहा है। जिन तथ्यों का चयन शुक्लजी ने किया उनका तथ्याख्यान महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस नाते शुक्लजी प्रसिद्ध भी हैं। शुक्लजी के इतिहास की कमजोरी तथ्यों की प्रामाणिकता की जाँच की कमजोरी है। इतिहास जिन भित्तियों पर खड़ा होता है, वह भित्ति ही मूल में कमजोर हो या आधार-रहित हो तो—इतिहास की नींव ही कच्ची रह जाती है। इस क्षेत्र को देखते हुए भी तथ्याख्यान इतना बलवान हो गया है कि सहज ही में इस दोष की ओर ध्यान नहीं जाता। तथ्यों की जाँच करनेवालों को ही ये दोष ज्ञात हो सकते हैं। जो तथ्य पहले से ठीक ज्ञात थे, वे उसी रूप में प्रचलित रहे हैं। ठाकुर शिवसिंह सेंगर और मिश्रबन्धु विनोद के तथ्य शुक्लजी के इतिहास में प्रामाणिक रूप में स्वीकृत रूप में विद्यमान हैं। इस मामले में हम शुक्लजी को दोष भी कैसे दें ?

## 2.6 तथ्य चयन और बौद्धिक ईमानदारी

आचार्य शुक्ल के इतिहास में तथ्यों की नींव कच्ची होने पर भी तथ्याख्यान मूल्यवान हो गया है। आचार्य शुक्ल की साहित्यिक अभिरुचि विकसित और प्रौढ़ थी। जो तथ्य उन्हें महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए उन तथ्यों पर उन्होंने विस्तार से ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार किया है। इस तरह से विचार करने में उन्होंने अपने ज्ञान का उपयोग ईमानदारी से किया है। शुक्लजी बौद्धिकता के पक्षपाती थे। भावना में बहकर लिखना उन्हें ठीक नहीं लगता था। दृष्टिकोण वस्तुमूलक रहा है। वे विषय-वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित करना उचित मानते थे।

तथ्य चयन इतिहासकार को करना ही पड़ता है। इस चयन में वह चाहकर तटस्थ नहीं रह सकता। वह चुनाव करने के लिए विवश है। इतिहासकार जिस युग में जीता है, उस युग की आवश्यकता के अनुसार वह अतीत के तथ्यों का

चयन करता है। शुक्लजी के सामने तथ्यों का अम्बार लगा था किन्तु उन्होंने अपने दृष्टिकोण से ही तथ्यों का चयन किया है। कहा गया है कि 'तथ्य तभी बोलते हैं जब इतिहासकार उन्हें बुलाता (बोलने लगता) है।'[23] तथ्य-चयन में तथ्यों के सम्बन्ध में विवेक से काम लेना पड़ता है, उनके सम्बन्ध में निर्णय देना पड़ता है और फिर उनकी व्याख्या भी करनी पड़ती है। यह एक ऐसा लम्बा-प्रवाह है, जिसमें इतिहासकार को साथ-साथ रहना पड़ता है। वह जिस किसी युग के तथ्य का चयन करे, उसे उस तथ्य को काल-क्रम में रखते हुए अपने समकालीन चिन्तन के अनुरूप बनाना पड़ता है। और फिर इस तथ्य चयन में वे लोग भी जिम्मेदार होते हैं जिन्होंने पहले ही तथ्यों का चयन कर लिया है। अर्थात् शिवसिंह सेंगर या मिश्रबन्धु विनोद या और विद्वान भी तथ्य चयन करते ही रहे हैं। आचार्य शुक्ल के पास तथ्य उनसे ही या उनके माध्यम से ही पहुँचे हैं। आचार्य शुक्ल ने नये तथ्यों का चयन न कर चयन किए हुए तथ्यों में से चयन किया है। बात इतनी ही है कि तथ्यों की पहचान उनकी अपनी है। इतिहास एक प्रकार से संहयोगी ज्ञान है औ परम्परा से चला आता है। परम्परा की पहचान बदलती है और बदलने वाले इतिहासकार होते हैं। तथ्यों के चयन में भूलें—वैज्ञानिक दृष्टिकोण से रखने पर—होती रहती हैं किन्तु एक बार जो भूल परम्परा से चल पड़ती है उसको बदलना नये इतिहासकार के लिए बहुत कठिन हो जाता है। शुक्लजी के चयन में साहित्य की उनकी अपनी पहचान तो है किन्तु काल-निर्णय सम्बन्धी दोष हैं और इन दोषों को संदिग्धावस्था में जानते हुए निर्णय शुक्लजी ने दे दिए हैं। कहना यह चाहता हूँ कि 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखने में आचार्य शुक्ल के पास पहले से ही चयन किए गए तथ्य मौजूद थे। उनके चयन की मीमांसा आचार्य शुक्ल ने अर्थात् शिवसिंह सेंगर या मिश्रबन्धुओं के चयन की मीमांसा—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किए बिना ही तथ्यों को अपने ढंग से चयन कर इन पर विचार किया। स्वयं आचार्य शुक्ल के इतिहास लिख लिए जाने के बाद तथ्यों पर विचार नहीं हुआ है, ऐसी बात नहीं है। डॉ० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में तथ्यों का वैज्ञानिक निवेचन करने का प्रयास है। उक्त इतिहास में तथ्याख्यान कम और तथ्यानुसन्धान अधिक है। तथ्यानुसन्धान की दृष्टि से डॉ० किशोरीलाल गुप्त ने 'सरोज सर्वेक्षण' प्रस्तुत किया है। तथ्यों की वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक मीमांसा—इस सर्वेक्षण में उत्तम रीति से की गई है। किन्तु बात यह है कि आचार्य शुक्ल इस प्रकार से तथ्य-मीमांसा में गये ही नहीं हैं। वस्तुतः वे न शिवसिंह सरोज का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना चाह रहे थे और न ही मिश्रबन्धु विनोद का। वे तथ्यों के लिए पूर्णतः उन पर निर्भर नहीं रहे। उनका काम अलग था और वह उन्होंने किया है। आचार्य शुक्ल [illegible]

भी तथ्याख्यान के लिए करते हैं। तथ्यों का अम्बार आचार्य शुक्ल के सामने ही इतना अधिक था कि सबको स्वीकार कर चलना उन्हें उचित नहीं लगा। इस सम्बन्ध में आज हम उन्हें दोष दे सकते हैं कि सब कुछ सामने होते हुए भी उन्होंने अमुक-अमुक तथ्य की उपेक्षा क्यों की? हमारे लिए यह कहना जितना सुगम है, उनके लिए काल की निश्चित सीमा में सभी तथ्यों को—इतिहास की 900 वर्षों की परम्परा को—देख लेना कितना कठिन था। आज तक भी आचार्य शुक्ल के बाद में इतने लम्बे काल प्रवाह को एक ही व्यक्ति द्वारा उपलब्ध तथ्यों में से चयन करना और एक निश्चित दृष्टिकोण से सब तथ्यों पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करना कितना कठिन काम है। आचार्य शुक्ल को सब कुछ अकेले करना पड़ा है—किसी रिसर्च स्कॉलर की सहायता लिए बिना ही करना पड़ा है। बाद में इतिहास लिखने वालों ने आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है। इस स्वीकृति में युग की सीमाएँ बनाकर अधिक विचार हुआ है और इसी तरह विधाओं की या और प्रकार की सीमाएँ बना दी गई हैं। जितने व्यापक फलक पर आचार्य शुक्ल 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' पर विचार करते हैं, उतने व्यापक फलक पर बाद में किसी ने भी विचार नहीं किया है। इसीलिए आज 1929 ई० के बाद 1986 ई० तक 57 वर्ष व्यतीत होने पर भी—हिन्दी साहित्य की आधी शताब्दी का आधुनिक काल का इतिहास उसमें न होने पर भी—हमारे लिए यह ग्रंथ आलोक स्तम्भ बना हुआ है। इसका एकमात्र कारण 'साहित्य-विवेक' और 'व्यापक ऐतिहासिक दृष्टिकोण' है। तथ्यों का चयन तालिकाएँ और सूची बनाने के रूप में नहीं अपितु तथ्यों को बोलने लगाना है और उनकी पहचान करवाना है। इसके लिए बौद्धिक ईमानदारी की आवश्यकता है, जिसका पालन अपने ढंग से आचार्य शुक्ल ने किया है।

□□□

ावश्यक है और ठीक इसी तरह मानस ने स्वयं हिन्दी मे जो परम्परा बनाई वह :नन्तर कैसे चलती रही है। आज तक के इतिहास-बोध पर मानस के प्रभाव की ाहचान भी होनी चाहिए। इस तथ्य को मैं रेखांकित करते हुए स्पष्ट करना वाहता हूँ—

मा
←——न———
स
———→1———→[2]———→3———→$3_1$
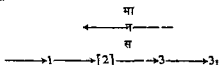
मानस की पहचान के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से काल के लम्बे प्रवाह मे 1, 2 तथा 3 सख्याएँ लिखी हैं। इनमे सख्या 2—मानस के लिखे जाने का काल है। सख्या 1—मानस को लिखने में तुलसी की पूर्व परम्परा है, जो ऐतिहासिक रूप से प्राप्त हुई है—[नाना पुराण······] उसकी पहचान अलग मे होगी। और सख्या 3 के अन्तर्गत मानस की परम्परा से सम्बन्धित वह रूप है जो बाद मे मानस के कारण हिन्दी में स्थापित हुई। पूर्व तथा परम की परम्पराओ को पहचानकर मानस को मानस की रचनाकाल के समय में उसकी स्थिति का मूल्यांकन प्रस्तुत करना मानस के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को जानना है। इसी तरह हमें साहित्यिक कृतियों तथा कवियो तथा लेखको की पहचान को परम्परा में रखकर—परम्परा से तटस्थ रखकर नहीं—विवेचन करना साहित्य के इतिहास की प्राथमिक आवश्यकता है। सख्या 3 और $3_1$ मे अन्तर पहचान के परिप्रेक्ष्यों के हैं। यह अन्तर काल मे भी सभव है और मूल्यांकन करनेवाले इतिहासकारो मे भी। इस तरह कहने के लिए स्थूल रूप में तीन संख्याएँ दी गई हैं। तुलसीदास के मूल्यांकन पर या किसी भी पथ पर जितनी अधिक रचनाएँ होगी, उन सबके परिप्रेक्ष्यो को काल-क्रम मे रखकर देखना आवश्यक है। मोटी बात यह है कि परम्परा मे कृति की ठीक पहचान हो जाए तो हम इतिहास की पहचान के अधिक निकट होंगे। काल का फलक जितना विस्तृत होगा परम्परा का स्वरूप भी तथा बल भी उसी प्रकार होगा। किसी रचना को 25 वर्षों के परिप्रेक्ष्य मे रखना और किसी रचना को 1000 वर्षों के परिप्रेक्ष्य मे रखने में बहुत अन्तर है। लोग तो आजकल एक वर्ष की रचनाओं मे उत्तम रचना कौन सी है, इस पर विचार करने लगे हैं। यह 1984 की सर्वोत्तम कृति है, यह 1985 की या 1986 की। एक वर्ष का काल फलक बहुत छोटा है और इस तरह से रचना का मूल्यांकन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नहीं हो सकता। यह सब मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य बहुत विस्तृत है। इस विस्तृत परिप्रेक्ष्य मे—परम्परा मे रख कर—कृतियों की और कृतिकारों की पहचान आचार्य शुक्ल ने की है। साहित्येति-

3.4 काल विभाजन

हिन्दी साहित्य के इतिहास को आचार्य शुक्ल ने चार कालों में विभाजित किया है। वह इस प्रकार है—[27]

1. आदिकाल [वीरगाथा काल संवत् 1050-1375]
2. पूर्व मध्यकाल [भक्तिकाल, 1375-1700]
3. उत्तर मध्यकाल [रीतिकाल 1700-1900]
4. आधुनिक काल [गद्यकाल 1900-1984]

यह इतिहास 934 वर्षों का है : ये नामकरण सिद्धान्त के रूप में आज भी स्वीकृत हैं। व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण इन नामों के स्थान पर अन्य नाम सुझाए गए हैं किन्तु जो भी नाम सामने आए हैं वे सभी नाम व्यापक फलक के संदर्भ में देखने पर स्वीकृत नहीं हो सके हैं। एक भक्ति काल के नाम को छोड़कर अन्य सभी नामों पर प्रश्न किए गए हैं। वीरगाथा काल के संदर्भ में ही विचार करें तो आदिकाल, चारण-काल, सिद्ध सामन्त काल आदि नाम विद्वानों ने प्रस्तुत किए हैं।[28] इसी तरह रीतिकाल के लिए शृंगार काल नाम भी आया है।[29] इन सब नामों पर आगे और विचार होगा। नामकरण के सम्बन्ध में हमें दो दृष्टियों से विचार करना चाहिए। (1) सिद्धान्त के रूप में, तथा (2) व्यावहारिक रूप में सिद्धान्त रूप में आचार्य शुक्ल का वर्गीकरण आज भी ठीक है। सिद्धान्त के रूप में आचार्य शुक्ल जिन प्राथमिक कारणों को प्रस्तुत करते हैं, उन्हें ठीक मान लें और विचार करें तो बात ठीक लगती है। सिद्धान्त रूप में वीरगाथा काल नाम उचित है। जिन बारह रचनाओं का उल्लेख आचार्य शुक्ल करते हैं और उनका विवेचन जिस ढंग से वे अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए करते हैं, उन सबको देख जाएँ तो वीरगाथाकाल नामकरण उचित लगता है। वीरगाथाकालीन सामग्री पर विचार करते समय उक्त सामग्री को आचार्य शुक्ल ने आरम्भ में ही संदिग्ध कहा है। सारी सामग्री को उन्होंने प्रामाणिक कहा ही कहाँ है। संदिग्ध सामग्री को 1050-1375 संवत् के बीच मानें और उक्त सामग्री की प्रवृत्तियों पर [12 रचनाओं में] विचार करें तो सिद्धान्त रूप में वीरगाथा काल ही कहना पड़ेगा।

सिद्धान्त रूप में आचार्य शुक्ल अपनी जगह ठीक हैं। अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए शुक्ल जी ने वीरगाथाकाल में फुटकल खाता भी खोला है। सच तो यह है कि फुटकल खाते का खोलना औसतवादी सिद्धान्त की रक्षा करना है। अमीर खुसरो तथा विद्यापति को फुटकल खाते में रखा गया है। काल-क्रम में वे वीरगाथाकाल में बैठते हैं किन्तु प्रवृत्ति वीरगाथात्मक नहीं है। इसलिए फुटकल खाते में इन कवियों को जगह देनी पड़ी। सच तो यह है कि फुटकल खाते के ये दोनों ही कवि संदिग्ध नहीं हैं। कम-से-कम वीरगाथाकालीन कवियों की तरह

नहीं है किन्तु सिद्धान्त रक्षा की बात है और इस नाते इन्हें अलग मान लिया
है।

व्यावहारिक रूप मे विचार करें तो वीरगाथाकाल मे आचार्य शुक्ल ने जिन
रचनाओ को वीरगाथा काल मे 1050-1375 संवत् के अन्तर्गत रखा था, वे
के विद्वान उक्त काल मे उन्हें मानते ही नही। नीव कच्ची होने के कारण नाम
करण का क्या हो ? जड ही कट जाती है। आदिकाल कहना अधिक ठीक माना
गया है। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर सिद्धान्त की नीव ही लड़खड़ा
जाती है।

## 3 5 आधुनिक काल : गद्यकाल

आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल को गद्यकाल कहा है। यह ध्यान देने की
बात है कि शुक्ल जी ने जहाँ वीरगाथा काल, भक्तिकाल और रीतिकाल नाम
करण किया, ठीक वैसे ही आधुनिक काल का नामकरण उन्होंने गद्यकाल किया।
गद्य को उन्होंने विशेष प्रवृत्ति के रूप मे स्वीकार किया। लिखा है—

> "आधुनिक काल मे गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना
> है इसलिए उसके प्रसार का वर्णन विस्तार से करना पड़ा है। इस
> थोड़े से काल के बीच मे हमारे साहित्य के भीतर जितनी अनेकरूपता
> का विकास हुआ है, उतनी अनेकरूपता का विधान कभी नहीं हुआ
> था।"[30]

शुक्लजी काल और साहित्य की प्रवृत्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते हैं
काल पर ध्यान रखने के कारण उन्हें उत्थान दिखलाने पड़े। आधुनिक काल का
आरम्भ उन्होंने संवत् 1900 से ही माना है। किन्तु प्रथम उत्थान संवत् 1925 से
संवत् 1950 तक माना है। द्वितीय उत्थान संवत् 1950 से 1975 तक का है और
तीसरा उत्थान संवत् 1975 के बाद का है। जो उनका अपना समसामयिक काल
है। ये उत्थान उन्हें दो बार दिखलाने पड़े। गद्य का खण्ड उन्होंने अलग लिया
और पद्य का अलग। प्रथम उत्थान से पहले के पच्चीस वर्षों को उत्थान के साथ
नहीं जोड़ा है। गद्य की स्थिति में वे उस काल को 'गद्य साहित्य का आविर्भाव'
बतलाते हैं और पद्य की स्थिति में 'पुरानी धारा' कहते हैं चूँकि आधुनिक काल को
गद्यकाल कहा गया है, अतः गद्य का विकास उन्होंने आरम्भ में लिया है। एक
प्रकार से इस विकास में उन्होंने भाषा का विकास प्रस्तुत किया है। ब्रजभाषा गद्य
और खड़ीबोली गद्य दोनों का अलग-अलग विस्तार से लिखा है। शुक्ल जी के
[illegible] का मूल ढाँचा नहीं है।

### 3 6 आधुनिक काल का प्रतिशत

आधुनिक काल पर लिखना खतरे से खाली नहीं है, इस बात को शुक्लजी अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने लिखा भी है—

> "पहले मेरा विचार आधुनिक काल को 'द्वितीय उत्थान' के आरम्भ तक लाकर उसके आगे की प्रवृत्तियों का सामान्य और संक्षिप्त उल्लेख करके ही छोड़ देने का था, क्योंकि वर्तमान लेखकों और कवियों के सम्बन्ध में कुछ लिखना अपने में एक बला मोल लेना ही समझ पड़ता था। पर जी न माना। वर्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियों का उल्लेख भी थोड़े बहुत विवेचन के साथ डरते-डरते किया गया।"[31]

खतरा मोल लेते हुए, क्षमा याचना के साथ शुक्लजी ने लिख ही दिया है। वस्तुत. जिनके नाम छूट गये हों, उनके लिए क्षमा याचना की है और कारण भी दिया है कि यह सारा कार्य जल्दी में करना पड़ा है। शुक्लजी ने कवियों तथा लेखकों का उल्लेख किया तो है किन्तु उनका ध्यान सामान्य लक्षण और प्रवृत्तियों को दिखलाने पर केन्द्रित रहा है। व्यक्ति की तुलना में उन्होंने विषय पर अधिक लिखा है और इसमे कोई व्यक्ति छूट भी गया तो विशेष अन्तर नहीं पड़ता। शुक्लजी के इतिहास-लेखन का फलक व्यापक था। व्यक्ति-विशेष पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते हुए उन्होंने इतिहास लिखा ही नहीं। इसी तरह विधा-विशेष पर भी उन्होंने इतिहास को विभाजित नहीं किया। मोटे रूप में गद्य और पद्य—यही उनका विभाजन है। और इस विभाजन मे भी दोनों ही स्थानो पर उत्थान बराबर दिखलाए गए हैं। पच्चीस वर्ष की एक पीढ़ी दिखलाते गये हैं। यह विचार करने की बात है कि 722 पृष्ठों के इतिहास मे [नवम संस्करण, संवत् 2009 के आधार पर कह रहा हूँ] 320 पृष्ठ आधुनिक काल को दिये गये हैं। प्रतिशत के हिसाब से देखें तो रीतिकाल तक का भाग 56 प्रतिशत है और आधुनिक काल का प्रतिशत 44 है। इसलिए हमे शुक्लजी के आधुनिक काल को अलग से पहचानना चाहिए।

### 3.7. रीतिकाल तक का इतिहास और आधुनिक काल

रीतिकाल तक के इतिहास मे और आधुनिक काल के इतिहास में वैसे ही भेद है। यहाँ मुझे तीनों कालों का उल्लेख तुलनात्मक रूप मे ही करना पड़ रहा है। हम अनुभव करते हैं कि रीतिकाल तक इतिहास रचनाओं पर अधिक आधारित है। रचयिताओं का व्यक्तिमूलक प्रामाणिक विवरण रीतिकाल तक बहुत कम उपलब्ध है। प्राय. अनुमान से काम चलाया गया है। इस अनुमान मे मूल स्रोत [illegible] प्रकार के स्रोत अधिक रहे हैं। वस्तुत इस प्रकार का इतिहास

### 3.8. आधुनिक काल : गद्य और पद्य

गद्य और पद्य दोनों ही विधामूलक नाम हैं। जैसे पद्य के विविध रूप मिलते हैं, उसी तरह गद्य के भी विविध रूप मिलते हैं। इन रूपों को प्रधान मानकर इतिहास नहीं लिखा गया है। गद्य-पद्य का स्थूल विभाजन करते हुए भी उनका ध्यान विषय-वस्तु पर रहा है और वे सामान्य लक्षण तथा प्रवृत्तियों की खोज करते रहे हैं। गद्यकाल तो औसत मूलक नाम है। गद्य की रचनाएँ पद्य की तुलना में अधिक मिलती हैं—इसीलिए यद्यपि गद्य की रचनाएँ परिमाण में अधिक हैं, तथापि साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ जितनी पद्य से सम्बद्ध रही हैं, उतनी गद्य से नहीं। साहित्य की केन्द्रीय विधा कविता ही है। आधुनिक काल में शुक्लजी पहले गद्य का विकास बतलाते हैं। इस विकास में उन्होंने भाषा का इतिहास भी लिखा है। *यह इतिहास ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों का है। खड़ी बोली की प्रतिष्ठा* पहले गद्य में हुई और बाद में पद्य में। खड़ी बोली का इतिहास लिखते हुए शुक्लजी उनके प्राचीन रूपों पर भी विचार करते हैं और उदाहरण भी देते हैं। हिन्दी के साथ-साथ वे उर्दू पर भी तुलनात्मक रूप से विचार करते हैं। उनका यह क्रम इसीलिए भी है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास ऐतिहासिक दृष्टि से ब्रजभाषा के साथ जुड़ा हुआ है। ब्रजभाषा का उत्तराधिकार खड़ी बोली को मिला है। उत्तराधिकार के रूप में बोली का परिवर्तन भाषा और साहित्य के इतिहास में प्रधान घटना है। आधुनिक काल में हुआ यह क्रान्तिकारी परिवर्तन है। इस परिवर्तन में गद्य-साहित्य ने पहल की है, इसलिए भी शुक्लजी आधुनिक काल को गद्य-काल कहते हैं। ब्रजभाषा ने पद्य का उत्तराधिकार जल्दी से खड़ी बोली को नहीं दिया। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पद्य के लिए ब्रजभाषा को स्वीकार करते थे और गद्य के लिए खड़ी बोली को। इस तरह एक ही युग में दोनों बोलियों से हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध बना हुआ था। जिस वर्ष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु हुई थी, उसी वर्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म हुआ—1884 ई०। भारतेन्दु का मण्डल शुक्लजी ने अपने बचपन में देखा है। भारतेन्दु के प्रति शुक्ल जी के मन में बचपन से ही श्रद्धा रही है। शुक्लजी के पिताजी पं० चन्द्रबली शुक्ल भारतेन्दुजी के नाटक घर पर सुनाया करते थे। भारतेन्दु के संस्कार शुक्लजी को अपने पिता से प्राप्त हुए। चिन्तामणि भाग 3, में प्रेमघन की छाया स्मृति निबन्ध पढ़ जाएँ तो भारतेन्दु के प्रति शुक्लजी के आकर्षण के कारण मालूम हो जाएँगे। मैं यहाँ पर भारतेन्दु का उल्लेख विशेष रूप से इसलिए कर रहा हूँ कि भारतेन्दु काल भाषा के विकास से सीधा जुड़ा हुआ है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही भारतेन्दु काल में हिन्दी साहित्य की भाषाएँ रही हैं। यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक काल में ब्रजभाषा में (शुक्लजी के आधुनिक काल में) जो काव्य लिखे गए या पद्य साहित्य रचा गया, उसे शुक्लजी 'पुरानी धारा'—के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

तुलना आगे प्रस्तुत कर रहा हूँ। यहाँ पर इतना ही कहना चाहता हूँ कि आचार्य शुक्ल के नामकरण की सीमाओ को पहचानते हुए पुनर्विचार करें तो अब भी अन्य नामों की तुलना मे वीरगाथात्मक प्रवृत्ति को प्रधान मानना पड़ेगा और वीरगाथाकाल नाम उचित लगता है। बात इतनी ही है कि शुक्लजी के काल की सीमाओं को बदलना पड सकता है।

रीतिकाल के लिए अलकार काल या श्रृगारकाल जो नाम प्रस्तावित किये गये, उनकी तुलना मे 'रीति'—नामकरण मे व्याप्ति अधिक होने के कारण यही नाम प्रचलित है। आधुनिक काल के सम्बन्ध मे ऊपर विस्तार से लिखा गया है।

आचार्य शुक्ल के नामकरणों मे साहित्य की विषय-वस्तु को ध्यान में रखा गया है। इस विषय-वस्तु को सामाजिक तथा राजनैतिक परिप्रेक्ष्य मे रखकर जनता की बदलती चित्तवृत्तियों को पहचानने का प्रयत्न युग के परिप्रेक्ष्य मे है। चाहे जिस काल का नामकरण हो, उक्त नामकरण को व्यापक फलक मे रखकर परखा गया है। ऐसा करते समय महत्त्वपूर्ण कवियो और उनकी रचनाओ को इन नामकरणों से अलग भी किया गया—फुटकल खाते मे उन्हें रख दिया गया है। आचार्य शुक्ल के इतिहास के फुटकल खाते, नामकरणों (काल विभाजन कह लीजिए) की सीमाओं को बतलाते हैं। अन्य विद्वानों ने जो नामकरण विकल्प मे किया है, उन्होंने फुटकल खाता खोला कहाँ है। फुटकल खाता खोलना स्वय अपने सिद्धान्त का कठोरता से पालन करने के समान है। शुक्लजी का सिद्धान्त अपनी जगह ठीक है। साहित्येतिहास लेखन मे निर्मम रूप मे सिद्धान्त पालन में सफल ही हुए हैं। घूम-फिरकर उन्हीं नामकरणों की ओर बाद के इतिहासकार चले आते हैं। शुक्लजी के नामकरणों की सीमाएँ सभी बतलाते हैं किन्तु विकल्प में नया नाम उतनी ही शक्ति के साथ आज भी सामने आए हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

☐ ☐ ☐

# 4. वीरगाथाकाल : परम्परा और परम्परा

## 4.1 दो परम्पराएँ

आदिकालीन साहित्य का नामकरण आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाकाल किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस काल की सामग्री पर पुनर्विचार करते हैं। उन्हें वीरगाथाकाल नाम उचित नहीं लगा। कुछ नामकरण नहीं करना चाहते। केवल आदिकाल ही कह देते हैं। कालवाची नाम है। प्रवृत्तिमूलक नाम नहीं दिया। दोनों आचार्यों की परम्पराएँ अलग-अलग हैं। आचार्य शुक्ल की परम्परा अलग है और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी की परम्परा अलग है। दोनों परम्पराओं के पहचान की आधारभूत सामग्री वीरगाथाकालीन/आदिकालीन—साहित्य की समझ में निहित है। आदिकाल की पहचान में दोनों का परिचय इस भाँति देने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

## 4.2 दूसरी परम्परा की खोज

डॉ० नामवरसिंह की सन् 1982 ई० में 'दूसरी परम्परा की खोज' पुस्तक प्रकाशित हुई है। दूसरी परम्परा की खोज करनेवाले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी हैं। प्रश्न होगा प्रथम परम्परा किसकी ? उत्तर स्पष्ट है—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की। डॉ० नामवर सिंह लिखते हैं—

> "हिन्दी आलोचना की तात्कालिक परम्परा से द्विवेदीजी का सीधा सम्बन्ध नहीं है। उनकी पहली पुस्तक 'सूर साहित्य' देखने से नहीं लगता कि इसका लेखक शुक्लजी की 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका से परिचित है, जबकि वह पुस्तक 1924 में ही द्विवेदीजी के काशी में रहते निकल चुकी थी। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' 'सूर साहित्य' की ही स्थापनाओं का व्यापक पटभूमि पर विकास है, जिसमें प्रसंगवश सूर और जायसी के विषय में शुक्लजी की मान्यताओं के सहमतिपरक उल्लेख और स्वयं आलोचक के रूप में शुक्लजी के महत्त्व की स्वीकृति के बावजूद उनकी भक्ति की उदय-सम्बन्धी धारणा के विपरीत

मान्यता रखी गई है। इसीक्रम मे 'कबीर' 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के ही एक अंग का विस्तृत विवेचन और विकास है जिसमें शुक्लजी से भिन्न मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। निश्चय ही 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' 'भूमिका' के ही दूसरे अंग का विस्तार है पर इसमे शुक्लजी की वीरगाथा सम्बन्धी मान्यता का स्पष्ट प्रत्याख्यान करते हुए कथानक-रूढ़ियो और काव्य रूपो के क्षेत्र मे सर्वथा नई बातें सामने रखी गई हैं।"[31]

यह लिखने के बाद डॉ० नामवरसिंह परम्पराओ को अलगाते है। उनका कहना है कि आचार्य द्विवेदी की परम्परा दूसरी ही है—

> "इस चिन्तन क्रम मे द्विवेदीजी जहाँ परम्परा से प्राप्त हिन्दी साहित्य के इतिहास के मानचित्र को बदलकर एक दूसरा मानचित्र प्रस्तुत करते हैं, वहीं साहित्य-सम्बन्धी एक नयी मान्यता भी सामने आती है। इस प्रकार एक नये इतिहास के साथ आलोचना का एक नया मान भी दृष्टिगोचर होता है। कबीर के साथ इतिहास की एक भिन्न परपरा ही नही आती, साहित्य को जाँचने-परखने का एक प्रतिमान भी प्रस्तुत होता है।"[33]

डॉ० नामवरसिंह यह भी मानते हैं कि आचार्य द्विवेदी शुक्लोत्तर आलोचको की तरह शुक्लजी से आतंकित नही है—

> "अपने समकालीन अन्य शुक्लोत्तर आलोचको की तरह द्विवेदीजी न तो कभी शुक्लजी से आतंकित हैं, न ग्रस्त—मुख्यत शान्तिनिकेतन काल की कृतियों में। इस मामले मे वे कबीर के समान ही सौभाग्य से शास्त्र-वंचित थे। कबीर को हिन्दुओ का शास्त्र पढ़ने को नही मिला तो द्विवेदीजी को हिन्दी आलोचना का शास्त्र। एक बात और है जिसमें वे कबीर से ज्यादा भाग्यशाली थे। वे अपने निर्माण-काल मे काशी से दूर रहे—शुक्लजी आदि की छाया से। इसलिए न उन्हें हिन्दी की यह महान परम्परा विरासत मे मिली, न इस परम्परा से खामखाह उलझने की कडवाहट ही महसूस हुई।"[34]

सच तो यह है कि डॉ० नामवरसिंह का ध्यान आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर केन्द्रित है और वे यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आतंक आचार्य द्विवेदीजी पर नही है। ठीक है, मान लेते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा को आतंकित करनेवाली परम्परा कहना क्या है? क्या इसमें आचार्य शुक्ल का ऐतिहासिक महत्त्व ज्ञापित नही होता? प्रकारान्तर से अस्वीकृति में स्वीकृति है। डॉ० नामवरसिंह से सहमत होते हुए मैं यह मानने के लिए तैयार —शान्ति निकेतन मे दूर रहने

हुए—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने जो कार्य किया, वह दूसरी [illegible] है। किन्तु शुक्लजी की परम्परा क्या है ? यह प्रश्न रह जाता है।

### 4.3 आदिकालीन साहित्य और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आदिकालीन साहित्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अध्ययन का [illegible] रहा है। इस काल के साहित्यिक अध्ययन ने द्विवेदी जी को नयी [illegible] है। वस्तुतः यह शान्तिनिकेतन की देन है। द्विवेदीजी को इतिहास [illegible] आयाम आदिकालीन साहित्य से प्राप्त हुआ है। आदिकालीन साहित्य का [illegible] करते-करते द्विवेदीजी अपभ्रंश भाषाओं की रचनाओं का अध्ययन भी [illegible] कबीर के सम्बन्ध में उनका अध्ययन आदिकालीन साहित्य को [illegible] हुए ही प्रस्तुत है। अपभ्रंश की परम्परा हिन्दी में अपनाते हैं। [illegible] सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व द्विवेदीजी की मान्यताएँ दी [illegible]

> "समग्र भारतीय साहित्य में हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें आर्यों की रूढ़िप्रियता, कर्मनिष्ठा के साथ-ही-साथ पूर्वी आर्यों की भावप्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेम-निष्ठा का मणि-काचन योग हुआ है। इस बात को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण ही केवल ऊपरी बातों को देखने वाले कभी इस भाव को मुसलमानी प्रभाव कह देते हैं। कभी-कभी विचारवान पण्डित भी ऐसी ऊटपटांग बातें कह जाते हैं जो नहीं कही जानी चाहिए थी।"[37]

नाम न लेते हुए भी आचार्य शुक्ल को लक्ष्य में रखते हुए ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है। ये कथन ऐसे हैं, जिनमें ऐतिहासिक चिन्तन है और तथ्यों को परखने तथा देखने का अपना दृष्टिकोण है। द्विवेदीजी की वीरगाथाकालीन—आदिकालीन कह लीजिए—मान्यताओं पर आचार्य शुक्ल की मान्यताओं के संदर्भ में ही डॉ० रामविलास शर्मा ने विस्तार से विचार किया है।[38] काल विभाजन के संबंध में द्विवेदीजी के इतिहास-लेखन पर टिप्पणी करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं—

> "जो लोग शुक्लजी को विवेकपूर्ण न मानते हों, वे कृपया द्विवेदीजी के इतिहास का ढाँचा और विषयवस्तु देखें और इस बात पर विचार करें कि द्विवेदीजी जैसे विद्वान ने शुक्लजी की ही व्यवस्था स्वीकार की है या नहीं। आदिकाल से लेकर छायावाद तक द्विवेदीजी ने उन्हीं धाराओं के हिसाब से इतिहास लिखा है, जिनका विवेचन शुक्लजी ने किया था। एक अन्तर है। द्विवेदीजी ने आदिकाल की तरह आधुनिक काल नाम तो रखा है लेकिन मध्यकाल नाम छोड़ दिया है। आदि है और आधुनिक है तो मध्य भी होना चाहिए। उसे छोड़ने का कोई संगत कारण नहीं दिखाई देता। इसके सिवा और युगों में जहाँ द्विवेदीजी ने उन्हीं साहित्यिक धाराओं और प्रवृत्तियों को मुख्य माना है जिनकी चर्चा शुक्लजी ने की थी, वहाँ आदिकाल की मुख्य धारा उन्होंने स्पष्ट नहीं की। जैसे मध्यकाल में—यह नाम न लेते हुए भी—उन्होंने भक्ति और रीतिकाव्यों की चर्चा की है, वैसे आदिकाल के अन्तर्गत ऐसा कोई शीर्षक नहीं दिया।"[39]

यहाँ पर मैं एक बात स्पष्टतापूर्वक कहना चाहता हूँ, आचार्य शुक्ल ने अपना इतिहास लेखन जितनी दृढ़ता के साथ व्यवस्थित रूप देते हुए लिखा है, उतनी दृढ़ता के साथ और व्यवस्थित रूप देते हुए द्विवेदीजी ने नहीं लिखा है। आदिकालीन साहित्य का अध्ययन उन्होंने विस्तार से किया है और इस अध्ययन में भी द्विवेदीजी का ध्यान तथ्याख्यान पर ही अधिक रहा है। शान्तिनिकेतन के वातावरण ने द्विवेदीजी को आदिकालीन साहित्य तथा संत साहित्य की ओर आकृष्ट किया

है। रवीन्द्रनाथ टाकुर के साथ-साथ क्षितिमोहन सेन, मुनि जिन विजय आदि के सम्पर्क के कारण कबीर संत साहित्य, सिद्ध और नाथ साहित्य तथा जैन साहित्य की ओर उनका ध्यान गया है। इस अध्ययन की ओर प्रवृत्त होने पर भी द्विवेदीजी के व्यक्तित्व में सृजनात्मक आवेग अधिक था। शान्तिनिकेतन ने उन्हें शोध-कार्य करने के लिए विवश किया। 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' शोधकार्य है। इसी शोध कार्य का सृजनात्मक रूप 'बाणभट्ट की आत्मकथा' है। मूल में न तो इतिहास लिखने की इच्छा रही और न समीक्षा की। व्यावसायिकता ने द्विवेदीजी को समीक्षालेखन और इतिहास-लेखन की ओर मोड़ा है। इनके निबन्धों में सृजनात्मक आवेग ही अधिक है। ऐसी स्थिति में द्विवेदीजी का शोध-कार्य व्यवस्थित नहीं हो सका है और न साहित्य-लेखन व्यवस्थित हुआ है। इसी बात सच है कि द्विवेदीजी ने आदिकालीन हिन्दी साहित्य का अध्ययन व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया। यही नहीं अपभ्रंश और हिन्दी की निर्माणकालीन स्थिति को गहराई से पहचाना। उनकी यह पहचान आदिकालीन साहित्य की विषय वस्तु के विश्लेषण के कारण बढ़ी है। जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथ्यानुसंधान में अधिक प्रवृत्त नहीं हुए वैसे ही द्विवेदीजी भी अपना ध्यान तथ्यानुसंधान में अधिक नहीं रखते। उदाहरण के लिए पृथ्वीराजरासो के संबंध में उनके अध्ययन को देखें। पृथ्वीराजरासो की विषय-वस्तु का [काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित संस्करण की विषय-वस्तु का] जितनी गहराई से अध्ययन किया, उतना वे उसकी प्रामाणिकता का अध्ययन नहीं करते। हस्तलिखित प्रतियों की छानबीन द्विवेदीजी ने कहाँ की है? 'संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो'—का उनका सम्पादन है किन्तु वह उक्त सभा के बृहत् संस्करण के आधार पर किया हुआ है। तथ्यानुसंधान के रूप में निर्णय कम और तथ्याख्यान के रूप में निर्णय देते हैं। रासो के संबंध में लिखा है—

> "पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बलद्दिय (चन्दवरदाई) हिन्दी-भाषा का आदि कवि माना जाता है। असल में वह अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दी का आदि कवि कम। क्योंकि उसका काव्य अब जिस रूप में पाया जाता है वह रूप मौलिक नहीं है। इस ग्रंथ में इतनी प्रक्षिप्त बातें आ घुसी हैं कि ओझाजी जैसे ऐतिहासिक पंडित इसे एकदम अप्रामाणिक और जाली ग्रंथ समझते हैं। हाल में पुरातन प्रबन्ध संग्रह के प्रकाशन के बाद से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो गई है कि चन्द का मूल काव्य बहुत-कुछ अपभ्रंश की प्रकृति का था और आज वह जिस रूप में मिलता है वह उसका अत्यंत विकृत रूप है।"[40]

द्विवेदी जी का यह कथन तथ्याख्यान के रूप में ही है। तथ्यानुसंधान में वे

अधिक प्रवृत्त नहीं हुए। आदिकालीन सामग्री का जितना गहन अध्ययन द्विवेदीजी ने किया है, उतना शुक्लजी ने नहीं किया। जो कुछ शुक्ल जी ने लिखा है, वह इतिहास ग्रंथ में ही है। आदिकालीन साहित्य के किसी कवि पर उनकी स्वतंत्र पुस्तक नहीं है। द्विवेदीजी ने तो इस विषय पर पुस्तकें लिखी हैं। पुस्तकें भी सामान्य नहीं—शोधपरक पुस्तकें हैं। फिर भी वे आदिकालीन साहित्य का नामकरण नहीं कर पाए। कारण यह है कि आदिकालीन साहित्य का सर्वेक्षण तो वे कर लेते हैं, सर्वेक्षण के साथ-साथ विश्लेषण भी वे उत्तम रीति से करते हैं किन्तु अपनी अधीत सामग्री को व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप वे नहीं दे सके हैं। शोधपूर्ण सामग्री पर द्विवेदीजी सांस्कृतिक टिप्पणियाँ उत्तम लिखते हैं। इस मामले में उनका चिन्तन मौलिक है। उनका ऐतिहासिक चिन्तन काल की रेखाओं में बैठता नहीं। शुक्लजी अपने ऐतिहासिक-चिन्तन में द्विवेदीजी से अधिक वैज्ञानिक हैं। द्विवेदीजी की भाव प्रवणता शुक्लजी में नहीं है। शुक्लजी ने देखा विद्यापति की रचनाएँ वीरगाथात्मक नहीं हैं—तुरन्त उसे फुटकल खाते में डाल दिया। शुक्लजी जितने निर्णयात्मक रूप में अपने कथनों को प्रस्तुत करते हैं, उतने द्विवेदी जी नहीं करते। संक्षेप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी का महत्व इस बात से है कि उन्होंने आदिकालीन साहित्य की रचनाओं का आन्तरिक और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया। यही नहीं, इस आधार पर अपने में एक नई ऐतिहासिक दृष्टि विकसित की जिसने उनके ऐतिहासिक चिन्तन को सार्वभौमिक रूप दिया।

### 4.4 आचार्य शुक्ल की परम्परा

आचार्य शुक्ल की परम्परा को स्पष्ट करना आवश्यक है। कारण यह है कि द्विवेदीजी की परम्परा दूसरी है—अतः प्रथम परम्परा का प्रश्न रह जाता है। इतनी बात तो स्पष्ट है और जिसे डा० नामवरसिंह ने भी स्वीकार किया है कि दूसरी परम्परा कबीर की है और प्रथम परम्परा तुलसी की है। स्पष्ट रूप से लिखा भी है—

> "शुक्लजी के लोकधर्म के प्रतीक तुलसीदास हैं, द्विवेदीजी के कबीर। भक्ति के स्तर पर बहुत कुछ समान, व्यवहार के स्तर पर एकदम विरुद्ध। यों स्वयं तुलसी कबीर का बिना नाम लिये स्पष्ट विरोध करते हैं और शुक्लजी की इसमें सहमति है। द्विवेदीजी इस बात में तुलसीदास से भी असहमत हैं और शुक्लजी से भी। क्या यह विरोध भी परम्परा में शामिल है? यदि हाँ तो फिर विकास है या ह्रास?"[31]

और भी लिखा है—

> "जो लोग यह मानते हैं कि द्विवेदीजी शुक्लजी की परम्परा को विक-सित नहीं कर सके, वे यह भी मानते हैं कि उनकी [illegible] के कारण ऐसा न हो सका। विद्रोही कबीर का [illegible] और भागवत के आगे तुलसीदास के बराबर क्रान्तिकारी [illegible] उपस्थिति है।"[33]

आचार्य शुक्ल की परम्परा को द्विवेदी जी ने [illegible] कर रखा था। इस तरह के आरोपों में मुझे कोई सार नहीं दिखाई देता। मैं यह मानता हूँ कि आचार्य शुक्ल की परम्परा को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में पहचानना चाहिए। व्यक्तियों की टकराहट में आमने-सामने परम्पराओं को प्रस्तुत करना ठीक नहीं है। सच्चाई यह है कि डॉ० रामविलास शर्मा को मध्य में रखकर डॉ० नामवर सिंह यह सब लिखते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। डॉ० रामविलास शर्मा को शुक्लजी की विरासत की चिन्ता है। ऐसा उन्होंने लिखा भी है—

> "निश्चय ही शुक्लजी की इस क्रान्तिकारी विरासत की ज्यादा प्रच-कारी होनी चाहिए और तत्परता से उसकी रक्षा होनी चाहिए।"[34]

डॉ० रामविलास शर्मा ने दोनों व्यक्तियों की तुलना सन्त साहित्य के सन्दर्भों की भूमिका के अन्तर्गत की भी है। आचार्य द्विवेदीजी के कथनों में जो विरोधा-भास मिलता है, उसे डॉ० रामविलास शर्मा ने उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है "बहुत विस्तार में न जाते हुए संक्षेप में यह कहना चाहता हूँ कि आचार्य द्विवेदी-जी ने अपना काम सहज रूप में जारी रखा या शुक्लजी का विरोध करना लक्ष्य बनाया—इस बात का निर्णय करना चाहिए।

## 4.5. तुलसी की परम्परा

आचार्य शुक्ल की परम्परा—तुलसी की परम्परा है। इस तथ्य का उल्लेख ऊपर हो ही गया है। इस सम्बन्ध में आगे विस्तार से विचार करना है। वीरगाथा काल के संदर्भ में और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी को ध्यान में रखते हुए यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि तुलसी की परम्परा का उपयोग आचार्य शुक्ल ने अपने लेखन में प्रायः सर्वत्र किया है। वीरगाथाकाल की रचनाओं का अध्ययन करने में या सन्त साहित्य के अध्ययन में भी तुलसीदास प्रच्छन्न रूप में विराजमान रहे हैं। हम शुक्लजी की परम्परा पर, शुक्लजी की स्थापनाओं पर विचार न कर केवल वीरगाथाकालीन तथा सन्त साहित्य के संदर्भ में ही विचार कर लें तो इस तरह से विचार करना 'वीरगाथाकालीन' [illegible]

अपने वक्तव्य मे शुक्लजी ने आदिकालीन सामग्री पर विचार करते समय—मिश्रबन्धुओं की नामावली की 10 पुस्तको का उल्लेख करते हुए - सब को खाते से काट दिया। काटने के आधार दिये। आचार्य शुक्ल लोक साहित्य के अध्ययन मे प्रवृत्त नही हुए। रहस्यवाद, गुह्य साधना, एव नाथ योगियो के साहित्य को शुक्लजी ने बहुत महत्व नहीं दिया। अपभ्रंश साहित्य की प्रवृत्तियो को हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियो से जोड़ने का प्रयास जैसे द्विवेदीजी करते हैं, वह प्रयास भी शुक्लजी ने नहीं किया। द्विवेदीजी तो मानते हैं—

> "आधुनिक युग के आरम्भ होने के पहले हिन्दी कविता के प्रधानत छ अग थे—डिंगल कवियो की वीरगाथाएँ, निर्गुणिया सन्तो की वाणियाँ, कृष्णभक्ति या रागानुगा भक्तिमार्ग के साधको के पद, रामभक्ति या वैधी भक्तिमार्ग के उपासको की कविताएँ, सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के तथा ऐतिहासिक हिन्दू कवियो के रोमांस और रीतिकाव्य। हम इन छहो धाराओं की आलोचना अगर अलग-अलग करें तो देखेंगे कि ये छहों धाराएँ अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास है।"[45]

आचार्य द्विवेदीजी 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' को सहज विकास रूप मे प्रस्तुत करना चाहते हैं। अपभ्रंश भाषा—देशी भाषा—हिन्दी भाषा के विकास को वे इसी रूप मे परखते भी है। उनकी विवेचना का मूल आधार, अपभ्रंश साहित्य और आदिकालीन साहित्य है। प्रश्न है आचार्य शुक्ल के इतिहास मे इन प्रश्नों पर विचार हुआ है या नही ? और हुआ है तो किस रूप मे ?

शुक्लजी की परम्परा को समझने के लिए भक्तिकालीन मान्यताओं को केन्द्र मे रखकर वीरगाथाकालीन सामग्री को पीछे लौटकर देखना चाहिए। ठीक इसी तरह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी की परम्परा को स्पष्ट करने के लिए अपभ्रंश-साहित्य और आदिकालीन साहित्य को केन्द्र मे रखकर बाद के साहित्य पर विचार करना चाहिए। आचार्य शुक्ल का लेखन विद्रोही स्वरूप का नहीं है। ज्ञान की स्पष्टता उनमे अधिक है। अपनी बात को वे बड़ी सफाई और साहस के साथ कहना खूब जानते हैं। और बड़ी बात यह है कि विचारों की स्पष्टता के लिए वे अपने कथनों को दोहराते रहते हैं। दोहराने को पुन पुन कहने वाली प्रवृत्ति का दोष न मानकर विचारों की दृढ़ता समझना चाहिए। ... में के रूप में है जो बात ठीक नहीं लगी—बड़ी सफाई ... रख ही जाएँगे। कारण भी दे देंगे। इस तरह से साफ साफ कहने ... कारण वे औरों को भारी पड़ते हैं। आचार्य शुक्ल का लेखन ... रा है। द्विवेदीजी की रचनाओं को पढ़कर आचार्य शुक्ल ने मे ... पढ़कर लिखा है। एक

अभिरुचि की ओर जाता ही है। यह ध्यान रहे कि सच्चा समीक्षक वही होता है जिसकी अपनी कोई साहित्यिक अभिरुचि होती है। समीक्षक का कार्य साहित्यिक अभिरुचि को विकसित करना है। जो समीक्षक इस कार्य का निर्वाह अपनी समीक्षाओं में नहीं कर पाता, उसकी समीक्षाओं में अपेक्षित बल भी नहीं होता। समीक्षक यदि अपनी समीक्षाओं में तटस्थ रहता है उसका प्रभाव पाठकों या श्रोताओं पर नहीं पड़ता। समीक्षक को इस नाते कुछ सीमा तक पक्षधर होना पड़ता है व जिसे वह गलत समझता है, उसका विरोध करना पड़ता है। समीक्षाओं में बल निष्ठा और विश्वास से आता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा में समीक्षक के गुण मिलते हैं। शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि भक्तिकाल के प्रधान कवियों के आधार पर बनी है। शुक्लजी के काव्य प्रतिमानों, समीक्षा के प्रतिमानों तथा मूल्यांकन के प्रतिमानों पर भक्ति साहित्य की छाप है। और फिर शुक्लजी ने भक्ति साहित्य पर जो भी लिखा वह भक्त बनकर नहीं लिखा है। जो कुछ लिखा है वह समीक्षक के रूप में है, इतिहासकार के रूप में है और निबन्धकार के रूप में है और इस तरह इन रूपों में उनका लेखन इतना प्रखर हो गया है कि हम उन्हें आचार्य कहने लगते हैं। शुक्लजी ने भक्ति-साहित्य को साहित्यिक गरिमा और दीप्ति प्रदान की। शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि में सौन्दर्य बोध भी खोजना हो तो भक्ति साहित्य को ही आधार बनाना होगा।

### 5.3 भक्त कवि

शुक्लजी के समीक्षक रूप पर विचार करते समय प्रथम अवलोकनीय तथ्य यह है कि उन्होंने साहित्यिक कृतियों से सीधा साक्षात्कार किया है। साहित्य का अध्ययन करते करते जिस कवि विशेष पर उनकी दृष्टि स्थिर हो गई, वह कवि तुलसी है। उनकी समीक्षाओं में 'तुलसी' समीक्षा के प्रतिमान के रूप में काम करता दिखलाई देता है। शुक्लजी सूरदास के सम्बन्ध में लिखते समय तुलसी को भूलते नहीं हैं। गोस्वामी तुलसीदास पर उनके द्वारा लिखी हुई पुस्तक छोटी है जबकि जायसी पर उन्होंने अधिक लिखा है और श्रम से लिखा है किन्तु फिर भी उनके लेखन में 'तुलसी' उनके मस्तिष्क में रहे हैं। हम तो यह अनुभव करते हैं कि तुलसी के समस्त लेखन में जैसे राम केन्द्र में रहे हैं, ठीक उसी तरह शुक्लजी के समस्त लेखन में 'तुलसी' केन्द्र में रहे हैं। इस तरह तुलसी को प्रतिमान मान लेने से उनकी समीक्षा प्रबल भी हुई और कुछ हद तक निर्बल भी।

### 5.4 तुलसीदास

समीक्षात्मक पुस्तकों में शुक्लजी की एक ही पुस्तक उनके जीवनकाल में प्रकाशित हुई है और वह है—'गोस्वामी तुलसीदास'। इस पुस्तक के संशोधित

संस्करण के वक्तव्य में शुक्लजी लिखते हैं—

> "इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में गोस्वामीजी का जीवनचरित भी गौण रूप में सम्मिलित था। पर जीवन वृत्त संग्रह इस पुस्तक का उद्देश्य न होने के कारण इस संस्करण से 'जीवन खंड' निकाल दिया गया है। अब पुस्तक अपने विशुद्ध आलोचनात्मक रूप में पाठकों के सामने रखी जाती है।

इन पंक्तियों में शुक्लजी के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए—'विशुद्ध आलोचनात्मक' शुक्लजी की और कोई पुस्तक विशुद्ध आलोचनात्मक नहीं है। सूरदास तथा जायसी पर उनकी जो पुस्तकें प्रकाशित हैं, उन्हें हम विशुद्ध आलोचनात्मक पुस्तक नहीं कह सकते। बात यह है कि स्वतंत्र कवियों पर उनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हैं और वे कवि तुलसी, सूर तथा जायसी हैं। ये तीनों ही भक्तिकाल के कवि हैं। कबीर छूट गये हैं। इन तीनों कवियों की समीक्षाओं पर विचार करें तो शुक्लजी के समीक्षक व्यक्तित्व का उद्घाटन हो सकता है। बात यह है कि हम इस बात की खोज करें कि कवि तुलसी, शुक्लजी की समीक्षाओं में प्रतिमान के रूप में किस तरह कार्य करते रहे हैं? इस प्रकार तुलनात्मक रूप में विचार करने में—अन्य कवियों की समीक्षाओं के साथ ही हम शुक्लजी के विचारों को जान भी सकेंगे

सूरदास तथा जायसी दोनों कवियों पर शुक्लजी ने तुलसी की अपेक्षा अधिक श्रम किया है। उनका यह श्रम उनकी सूरदास [आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित] पुस्तक तथा जायसी ग्रंथावली की भूमिका को देखने से सहज ही में ज्ञात हो जाएगा। जिस कवि को शुक्ल जी चाहते रहे हैं, उस पर उन्होंने श्रम नहीं किया। उसे हम श्रम कहें या कवि का सहज साक्षात्कार कहें, यह प्रश्न उपस्थित होगा। तुलसी शुक्लजी के व्यक्तित्व के - शुक्लजी के साहित्यिक व्यक्तित्व का कहिए—इतने सहज अंग हो गए हैं कि शुक्लजी को तुलसी के लिए विशेष श्रम की आवश्यकता ही नहीं रही। उनकी 'गोस्वामी तुलसीदास' पुस्तक पढ़ जाएं तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। शुक्लजी की सहज चलती शैली इस पुस्तक में मिलेगी। इतनी सहज-शैली में उनकी दूसरी पुस्तकें नहीं हैं। सामान्य रूप में शुक्लजी का लेखन बोझिल होता है। उनकी पुस्तकों को गम्भीर माना जाता है। 'गोस्वामी तुलसीदास' पुस्तक गंभीर नहीं है। इस पुस्तक में वे सीधे वाक्यों में जुड़ते हैं और तुलसी के प्रति उनके जो साहित्यिक विचार हैं, उसे वे सहज रूप में प्रस्तुत करते हैं। जो कवि उनकी साहित्य समीक्षा का प्रतिमान रहा है, उसके सम्बन्ध में लिखते समय वे बहुत सहज हो गये हैं।

## 5.5 जायसी

तुलसी के बाद हमे सूरदास पर विचार करना चाहिए किन्तु सूरदास पर उनका लेखन [शुक्लजी की अपनी दृष्टि मे ही] अपूर्ण है। इसलिए हमे जायसी पर पहले विचार करना चाहिए। जायसी पर उनकी भूमिका [जायसी ग्रथावली की भूमिका] पूर्ण है। उक्त ग्रथ उनके जीवनकाल में छपा भी है और उन्होंने उक्त ग्रथ के दूसरे सस्करण को ठीक कर छपवाया है। जायसी पर कुछ कहने से पूर्व इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक समझता हूँ कि शुक्लजी ने जिन तीन प्रधान कवियों पर अलग से लिखा है, उनके लिखने से पूर्व उन्होंने उन कवियो की ग्रथावलियो का सम्पादन भी किया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर 'तुलसी ग्रथावली' का सम्पादन हुआ है। इसके सम्पादक मण्डल मे भगवानदीन और ब्रज रत्नदास के साथ-साथ आचार्य शुक्ल भी थे। ठीक इसी तरह 'सूरसागर' के सम्पादन के लिए भी उनसे कहा गया था। उसे वे पूरा नहीं कर पाए। फिर भी भ्रमरगीत सार का सम्पादन उनका अपना है। पूरे सूरसागर का सम्पादन बाद मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने ही किया। जायसी ग्रथावली का सम्पादन उनका अपना है। ग्रथावलियों के सम्पादन से किसी समीक्षक का कवि विशेष से सीधा साक्षात्कार होता है। इस माध्यम से समीक्षक रचनाओ के बाद समीक्षा की ओर अग्रसर होता है। तुलसी ग्रंथावली के सम्पादन मे शुक्लजी के साथ और लोग थे किन्तु जायसी ग्रथावली का सम्पादन उनका अपना ही है। सम्पादन परिपूर्ण है और भूमिका भी पूरी है। शुक्लजी के समस्त लेखन मे योजनाबद्ध लेखन यदि कोई परिपूर्ण रूप में है, तो वह जायसी ग्रथावली ही है। इसके बाद हम उनके दूसरे प्रसिद्धग्रथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को स्थान दे सकते हैं। समीक्षा की दृष्टि से तो जायसी ग्रथावली—(भूमिका) को प्रथम स्थान देना चाहिए। यहा 'देना चाहिए' कहते समय 'तुलसी' याद आ जाते हैं। जायसी की समीक्षा मे शोध-तत्व भी है। डॉ० नगेन्द्र इस सम्बन्ध मे लिखते हैं :—

> "क्या शुद्ध आलोचना अनुसधान नही है ? यह प्रश्न दूसरे ढग से भी रखा जा सकता है : क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यत उत्तम अनुसधान नहीं है ? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसधान अपनी चरम परिणति मे आलोचना से भिन्न ही रहता है ? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यत उत्तम अनुसधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी मे जायसी ग्रथावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असदिग्ध प्रमाण

है और साहित्यिक अनुसंधान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूं। यहां तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है।[47]

डॉ० नगेन्द्र जायसी ग्रंथावली की भूमिका को उत्तम आलोचना और उत्तम अनुसंधान दोनों का आदर्श योग मानते हैं। प्रश्न यह है कि क्या 'गोस्वामी तुलसीदास' पुस्तक 'उत्तम आलोचना' नहीं है? शुक्लजी ने तो उसे विशुद्ध आलोचनात्मक रूप कहा है। हम अनुभव करते हैं कि 'गोस्वामी तुलसीदास' पुस्तक में अनुसंधान का तत्व गौण है। हम तो यह निर्णय देंगे कि समीक्षक के रूप में तुलसीदास पर लिखी हुई उनकी पुस्तक उत्तम है। जायसी पर उनकी समीक्षा में शोध-तत्व उभरा है। यह ठीक है कि इस शोध-तत्व के साथ-साथ आलोचना का उत्तम संयोग हो जाने के कारण जायसी की समीक्षा में तुलसी की अपेक्षा लेखन गम्भीर हो गया है। तुलसी पर लिखते समय शुक्लजी जितने सहज हैं या रहे हैं, उतने सहज वे जायसी पर लिखते समय नहीं रहे। प्रश्न यह है कि जायसी की ओर वे क्यों आकृष्ट हुए? दो कारण हैं। एक तो यह कि तुलसी ने जिस भाषा में रामचरितमानस लिखा, उसी भाषा में जायसी ने पद्मावत लिखा। भाषा समान है। दूसरा यह कि जिस शैली में (दोहा-चौपाई) रामचरितमानस का सृजन हुआ है, उसी शैली में पद्मावत का सृजन हुआ है, दोनों प्रबन्धकाव्य (तदनुसार महाकाव्य) हैं फिर बात यह है कि जायसी की रचना रामचरितमानस से पहले की है व कवि तुलसी के प्रतिमान शुक्लजी को जायसी में मिले। काव्यभाषा, काव्यरूप तथा शैली तीनों में साम्य दिखलाई दिया। ऐसा प्रतिमान उन्हें किसी दूसरे कवि में नहीं मिला। तुलसी के काव्य-प्रतिमानों का पारम्परिक विकास दिखलाने के लिए (तुलसीदास में तो वे उस प्रतिमान को परिपूर्ण मानते हैं) जायसी के अध्ययन की ओर वे आकृष्ट हुए उनका यह आकर्षण अनुसंधाता के रूप में है। एक जिज्ञासु के रूप में है वस्तुतः तुलसी के काव्य-प्रतिमानों का अनुसंधान जायसी ग्रंथावली की भूमिका में है। शुक्लजी ने लिखा है—

> "इसका (पद्मावत का) अध्ययन हिन्दी साहित्य की जानकारी के लिए कितना आवश्यक है, यह इसी से अनुमान किया जा सकता है कि इसी के ढांचे पर 34 वर्ष पीछे गोस्वामी तुलसीदास ने अपने लोकप्रसिद्ध ग्रंथ 'रामचरितमानस' की रचना की। वही अवधी भाषा और चौपाई का क्रम दोनों में है, जो आख्यान-काव्यों के लिए हिन्दी में संभवतः पहले से चला आता रहा हो। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग जायसी और तुलसी को छोड़ और किसी कवि ने नहीं किया है। तुलसी की भाषा के स्वरूप को पूर्णतया समझने के लिए जायसी की भाषा का अध्ययन आवश्यक है।"[48]

तुलसी की महत्ता के उद्घाटन हेतु, जायसी का अध्ययन अनुसन्धाता के रूप में हुआ है।

5 6. सूरदास

सूरदास पर शुक्लजी का लेखन अपूर्ण है। अपूर्ण, इस अर्थ में कि शुक्लजी की अपनी दृष्टि में यह पूर्ण नहीं है। सूरदास पुस्तक उनके अपने जीवनकाल में छपी भी नहीं। नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से 'सूरसागर' के सम्पादन का भार उनको सौंपा गया था। लिखा है :—

> एक बार काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने शुक्लजी के सूरसागर का सम्पादन करने का प्रस्ताव किया। इसे स्वीकार करके उन्होंने काम प्रारम्भ भी कर दिया। लेकिन तीन-चार वर्ष बाद जब सभा ने जल्दी मचाई तब यह कहकर कि सूरसागर जैसे क्लिष्ट ग्रंथ को वे 1940 के पहले न पूरा कर सकेंगे उन्होंने यह काम 1935 में सभा को लौटा दिया। सभा ने रत्नाकरजी और अजमेरीजी से उसे बाद में पूरा कराया। इसके बाद शुक्लजी ने अपने काम को प्रचुर टीका-टिप्पणी और विस्तृत भूमिका के साथ सूरसागर का सम्पादन करके स्वतन्त्र संस्करण में प्रकाशित करने का निश्चय किया। तदनुसार 140 पृष्ठ भूमिका और 160 पदों की टिप्पणी छोड़कर 1941 में वे स्वर्ग सिधारे।"[49]

ये पंक्तियाँ श्री चन्द्रशेखर शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'रामचन्द्र शुक्ल' में लिखी हैं। भ्रमरगीतसार की भूमिका संवत् 1982 ई० की लिखी हुई है। भ्रमरगीतसार के वक्तव्य में शुक्लजी ने लिखा है :—

> "मैंने सन् 1920 में भ्रमरगीत के अच्छे पद चुनकर इकट्ठे किये और उन्हें प्रकाशित करने का आयोजन किया, पर कई कारणों से उस समय पुस्तक प्रकाशित न हो सकी। छपे फार्म कई बरसों तक पड़े रहे। इतने दिनों पीछे आज 'भ्रमरगीतसार' सहृदय समाज के सामने रखा जाता है।"[50]

भ्रमरगीत-सार की भूमिका आलोचनात्मक है। इस भूमिका को आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी सम्पादित पुस्तक 'सूरदास' के अन्त में रखा है। वहाँ इसका शीर्षक आलोचना है। उक्त सम्पादित पुस्तक के अन्य निबन्ध शोधपरक, ऐतिहासिक विकास को दिखलानेवाले और कुछ सीमा तक सैद्धान्तिक भी है। जायसी पर शुक्लजी ने अपना कार्य पूर्ण किया, वैसे सूरदास का कार्य पूर्ण नहीं है। 'सूरदास' पुस्तक के द्वितीय संस्करण के अंत में परिशिष्ट के अन्तर्गत शुक्लजी की सूरदास पर काम करने सम्बन्धी योजना प्रकाशित है। उस योजना में पाइंटस् फार

डिस्कशन् (Points for discussion) के अंतर्गत क्रम से 10 पाइंट्स् दिये गये हैं। अन्त में टिप्पणी भी है। इस योजना के अनुसार काम हुआ तो नहीं किन्तु सूरदास पर किन दृष्टियों से विचार करना चाहिए, यह बात स्पष्ट हो जाती है। उक्त परिशिष्ट में और भी टिप्पणियाँ हैं। इन सब को देख जाने से हम यह कह सकते हैं कि सूरदास की ओर शुक्लजी का ध्यान अनुसन्धाता के रूप में गया है। काव्य के रूप में उनकी आलोचना (भ्रमरगीत-सार की भूमिका) अलग है किन्तु उसको लिखने के बाद भूमिका के अन्त मे उन्होंने लिखा है —

> "भ्रमरगीत की भूमिका के रूप में ही यहाँ सूर के सम्बन्ध में कुछ विचार सक्षेप में प्रकट किये गए है। आशा है, विस्तृत आलोचना का अवसर भी कभी मिलेगा।"[51]

सूरदास के साथ ऐसा क्यो हुआ ? जायसी के साथ ऐसा क्यो नही हुआ ? इस पर हमे विचार करना चाहिए। जायसी पर योजनानुसार श्रमपूर्ण किया, सूरदास के प्रति चाहकर भी श्रम पूर्ण नही हुआ और गोस्वामी तुलसीदास के लिए उन्होंने ऐसा श्रम नही किया न ऐसी कोई योजना बनाई।

### 5.7. तुलसी : प्रतिमान के रूप में

यह पहले ही कहा जा चुका है कि शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि का आधार तुलसी है। जायसी तथा सूरदास पर काम करते समय शुक्लजी तुलसी को भूले नही है। तुलसी उनके मानस में है। तुलसी पर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से श्रम न किया हो किन्तु जायसी और सूरदास पर काम करते समय तुलसी का उन्होंने आवश्यकतानुसार उल्लेख किया है। सूरदास की शैली तुलसी से मिल जाती है और इसी तरह जायसी की भी। किन्तु तुलसी ने रामकथा को जितनी शैलियो में अभिव्यक्त किया है, उतनी शैलियाँ न सूरदास मे मिलती हैं न जायसी में। शुक्ल जी ने अनुभव किया कि तुलसी को ठीक तरह से पहचानने के लिए जायसी और सूरदास का अध्ययन आवश्यक है। जायसी के आधार पर वे पूर्वपरम्परा को स्पष्ट करते हैं —भाषा (अवधी), शैली (दोहा-चौपाई) तथा काव्यरूप (महाकाव्य—प्रबन्ध काव्य कहिए)। एक हद तक काव्य का बाह्य विधान [सृजनात्मक स्वरूप] जायसी की रचनाओं में [तुलसी के मानस से मिलाए तो] मिलता है। ठीक आंतरिक विधान पर विचार करें—भक्ति पर विचार करने की बात कहिए—तो सूरदास में ये विशेषता जायसी की अपेक्षा अधिक है। सूरदास पर विचार करते समय ध्यान भक्ति की ओर जाता है—भक्ति के स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न होता है। ठीक इसी तरह जायसी पर विचार करते समय ध्यान भाषा-शैली काव्य रूप की ओर जाता है। शुक्लजी को तुलसीदास के काव्य-प्रतिमान दोनों में ही

अलग-अलग स्तरों पर मिलते हैं। दोनों को एक साथ [उत्तम संयोग के रूप में] वे तुलसी में ही अनुभव करते हैं।

## 58. इतिहास : समीक्षा ग्रन्थ के रूप में

समीक्षक के रूप में हमें आचार्य शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पुस्तक पर विचार करना चाहिए। कारण यह है कि भक्ति काल के तीन प्रधान कवियों को छोड़कर अन्य कवियों की समीक्षाएँ इतिहास-ग्रंथ में ही लिखी हैं। गद्य की समीक्षाएँ भी इतिहास में ही हैं। उक्त ग्रंथ में इतिहास तत्त्व अधिक है या समीक्षा के तत्त्व अधिक हैं—इन सब तथ्यों पर विचार करना चाहें और उनका विवेचन तथा विश्लेषण करें तो हमारा निष्कर्ष प्रायः यह होगा कि उक्त ग्रंथ में समीक्षक के तथ्य सबसे प्रबल हैं। आज उनके इतिहास को नकारा जाता है, तो उनका कारण 'शोध-पक्ष' अधिक है। इधर कई तथ्य प्रकाश में आए हैं, जिनके कारण इतिहास को अब पुराना माना जाने लगा है। सच तो यह है कि शुक्लजी ने स्वयं 'शोध' की अधिक चिन्ता भी नहीं की है? नागरीप्रचारिणी सभा में खोज रिपोर्टों के रूप में जो सामग्री एकत्रित हो गई थी, उसी को उन्होंने अपने इतिहास का आधार बनाया है। फिर मिश्रबन्धुओं की सामग्री का उन्होंने पूरा-पूरा उपयोग किया है। शिवसिंह सरोज से भी उन्होंने बहुत से तथ्य (विशेष रूप से रचनाओं के नाम सन्-संवत् आदि) स्वीकार कर लिए हैं। शोध की दृष्टि से तथ्यों पर उन्होंने पुनर्विचार बहुत कम किया है। हम तो यह कह सकते हैं कि शोध-कार्य जितना मिश्रबन्धुओं ने किया, उतना शुक्ल जी ने नहीं किया। शोध की दृष्टि से शुक्लजी मिश्रबन्धुओं से बहुत आगे नहीं है। किन्तु समीक्षा की दृष्टि से विचार करें, तो मिश्रबन्धुओं से वे बहुत आगे हैं। उनके इतिहास-ग्रंथ में समीक्षक का तत्त्व सबसे अधिक है। हम यों भी कह सकते हैं कि शुक्लजी के इतिहास का आधार साहित्य समीक्षा है। शुक्लजी ने 'साहित्यिक रचनाओं' की पहचान बढ़ाई है और इस पहचान का आधार 'साहित्य-समीक्षा' है। 'वीरगाथा काल', 'भक्तिकाल' तथा 'रीतिकाल' का नामकरण उनका अपना है। इस प्रकार के नामकरण में साहित्यिक प्रवृत्तियों को प्रधानता दी गई है। किसी विशेष कालखण्ड में उन्होंने जिन रचनाओं को साहित्य के अन्तर्गत रखा, उनकी प्रवृत्तियों को पहचान कर युग-विशेष की औसत प्रवृत्तियों का चयन किया और उक्त प्रवृत्तियों के आधार पर युग-विशेष का नामकरण किया। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रवृत्ति की पहचान में 'साहित्य समीक्षा' प्रधान है। एक अर्थ में शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास—समीक्षा प्रधान ग्रंथ है। उक्त ग्रंथ का मूल्य समीक्षात्मक रूप में आज भी बाकी है। उनके इतिहास का विरोध हो सकता है, शोध के कारण उनके द्वारा स्वीकृत तथ्यों को आज नकारा जा सकता है किन्तु उनकी समीक्षाओं का

अतः आज भी सब स्वीकार करते हैं। वीरगाथाकाल की रचनाएँ प्रामाणिक अब स्वीकृत नहीं है और शुक्लजी ने भी यह कहा था कि वे सब पूर्ण प्रामाणिक मानते हैं। अप्रामाणिक रचनाओं को लेकर ही उन्होंने विचार किया उस कालखण्ड की रचनात्मक प्रवृत्तियों को पहचाना। यदि उक्त तथ्य (जिसे मानते समझकर शुक्लजी ने विचार किया) स्वीकृत होते हैं या मान लिए जाते हैं, तो उनके निर्णय को स्वीकार करना होगा। आपको विरोध यदि करना है, तो तथ्यों को लेकर ही विरोध कर सकते हैं। आप उनको पहले ही काट दीजिए, कोई आपत्ति नहीं। किन्तु यदि एक बार आप उन्हें स्वीकार कर लेते हैं, तो फिर को आप तब उनकी बात माननी पड़ेगी। अपनी समीक्षाओं में वे बड़े सजग हैं। आज भी किसी कवि पर विचार करते समय, हम यह देखना चाहते हैं कि शुक्ल जी ने कवि-विशेष के सम्बन्ध में क्या कहा है? ऐसा क्यों? कारण उनकी समीक्षा है। एक समीक्षा ग्रंथ के रूप में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आज भी महत्त्वपूर्ण है।

### 5.9. साहित्यिक इतिहास बनाम समीक्षा

साहित्यिक इतिहास लिखना एक अर्थ में समीक्षात्मक इतिहास लिखना है। कारण यह है कि साहित्य का इतिहास लिखने के लिए कृतियों तथा कृतिकारों का चयन करना पड़ेगा। तदर्थ साहित्यिक विवेक के आधार पर कृतियों की पहचान प्रस्तुत करनी पड़ेगी। इस पहचान के बाद ही साहित्य की परम्परा दिखलाई जा सकेगी। इस नाते साहित्यिक इतिहास समीक्षा प्रधान इतिहास हो ही जाता है। और फिर समीक्षा के प्रतिमानों में इतिहासकार का प्रयोजन, साहित्यिक अभिरुचि, साहित्य-सिद्धान्त आदि निहित रहते हैं। इन सब का संयोग हो तभी तो इतिहास ठीक होगा। रेने वेलेक तथा आस्टिन वारेन इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

> "आलिवर एल्टन के विषय में जिनके छह खण्डों में लिखे गये सर्वे ऑफ इंग्लिश लिटरेचर में, जो पिछले कुछ वर्षों में इंग्लैंड के साहित्यिक इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, बड़े दो टूक ढंग से यह स्वीकार किया गया है कि यह 'वस्तुत एक समीक्षा है, एक आलोचना है' न कि इतिहास।"[52]

इस रूप में तो हम भी आचार्य शुक्ल के साहित्यिक इतिहास को समीक्षात्मक इतिहास कह सकते हैं। हिन्दी साहित्य की यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आचार्य शुक्ल के बाद में जो इतिहास लिखे जाने के प्रयत्न हुए उनमें 'इतिहास तत्त्व को प्रधानता देने के प्रयत्न हुए हैं—इस प्रयत्न में यह अनुभव किया गया कि यह कार्य एक व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं है अत सहयोगी योजना बनाकर काम करना ठीक हो सकता है। किन्तु इसके कारण इतिहास में तथ्यों को बटोर कर क्रम में तो रख

दिया गया किन्तु समीक्षा का वह रूप जो आचार्य शुक्ल के इतिहास में है, गायब हो गया। इतिहास और समीक्षा को अलगाने के प्रयत्न मे न तो इतिहास के सिद्धांत की—साहित्येतिहास के सिद्धान्त की कहिए—रक्षा हो पाई और न समीक्षा ही हो सकी है। आचार्य शुक्ल का इतिहास इस तरह देखें तो अपने आपमें साहित्येतिहास का उत्तम आदर्श (Model) है।

## 5.10 हिन्दी समीक्षा का सत्व

31 अक्तूबर से 2 नवम्बर 1985 तक, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद मे आचार्य रामचद शुक्ल सगोष्ठी हुई। उक्त सगोठी के एक सत्र का विषय 'हिंदी समीक्षा का सत्व' रहा है। इस संगोष्ठी के अध्यक्ष डॉ॰ राममूर्ति त्रिपाठी ने शुक्लोत्तर समीक्षा के प्रतिमानों पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल की समीक्षा में हिन्दी समीक्षा के सत्व की पहचान का प्रयत्न किया। डॉ॰ राममूर्ति त्रिपाठी लिखते हैं—

> "जिस चतुर्मुख भण्डार से दीप्त अन्तर्दृष्टि का प्रथम समीक्षक हिन्दी को आचार्य शुक्ल के रूप मे मिला वैसा चतुर्मुख और सतुलित व्यक्तित्व पुन अब तक उदित नही हुआ। दूसरे, छायावादी समीक्षा मे शुक्ल-प्रतिमानो का सर्वत्र एकमा अकाट्य खण्डन नही हो पाया है। तीसरे, स्वय आचार्य वाजपेयी उनकी 75वीं वर्ष-ग्रन्थि पर वक्तव्य देते हैं—'हिन्दी अनुशीलन शुक्लजी के अभाव मे सुस्पष्ट स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाया और कुल मिलाकर एक विशृंखल वस्तु बन गया है।'"[53]

आचार्य शुक्ल के काव्य-प्रतिमान मे भक्ति-साहित्य की पीठिका को व्यक्त करते हुए निष्कर्षात्मक रूप मे उन्होंने लिखा है—

> "भक्ति को लोकमगल परक साधनों मे चतुष्पाद और सर्वोपरि मानते हुए भी भक्ति की अवधारणा मे वैष्णवाचार्यो से अलग हट जाते हैं और कहते हैं—'धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति है और ब्रह्म के संदेश का व्यक्त रूप धर्म है। यह भक्ति उनके अनुसार अन्त-करण की सत्वमय प्राकृत वृत्ति है। इस प्रकार शुक्लजी का यह मौलिक प्रस्थान जिसका मेरुदण्ड जीवन मे मानवता का चरितार्थता ही सब कुछ है—कैसे विवादास्पद हो सकता है? उसका सत्व कैसे मदप्रभ हो सकता है? दूसरे उनकी समीक्षा का दूसरा पक्ष व्यावहारिक है—जिसके दो रूप हैं—एक मूल्यांकनात्मक और दूसरे व्याख्यात्मक। मूल्यांकनात्मक समीक्षा एकनिष्ठ होने के कारण विवादास्पद हो

सकती है परन्तु व्याख्यात्मक समीक्षा जो शब्द ध्वनि और रचना की तह में निहित सर्जनात्मक अनुभूति के साक्षात्कार पर निर्भर है— सदा-सदा के लिए समीक्षाओं का मार्ग निर्देश करती रहेगी।"[54]

हिन्दी समीक्षा को जो स्तर आचार्य शुक्ल ने दिया, उसके कारण 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी अपने आप में अभूतपूर्व प्रमाणित हुआ है।

□□□

# 6. भक्ति आन्दोलन का सौंदर्यशास्त्र

### ित साहित्य : सौन्दर्यशास्त्र का आधार

ाचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भक्ति-साहित्य से सम्बन्धित विवेचन, विश्लेषण ूल्यांकन अपने आप में ऐतिहासिक होते हुए भी प्रासंगिक है। शुक्लजी के प्रतिमानों, समीक्षा के प्रतिमानों तथा मूल्यांकन के प्रतिमानों पर भक्ति-य की छाप है। शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि का आधार भक्ति-साहित्य ौर फिर शुक्लजी ने भक्ति-साहित्य के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह बनकर नहीं लिखा है। जो कुछ लिखा है, वह समीक्षक के रूप में है, इतिहास-के रूप में है, निबन्धकार के रूप में है व इन सब रूपों में उनका लेखन इतना है कि हम उन्हें आचार्य कह सकते हैं। शुक्लजी ने भक्ति-साहित्य को साहि-...ा गरिमा और दीप्ति प्रदान की। शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि में सौंदर्य-बोध की खोज करनी ही हो तो हमें भक्ति-साहित्य से सम्बन्धित उनके लेखन को आधार बनाना होगा। ऐसा प्रयास यहाँ पर कर रहा हूँ।

सुभाउ।' (अयोध्याकाण्ड 6/274) 'शील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची।' (अयोध्याकाण्ड 4/313)—इन पंक्तियों में राम को शील-निधान कहा गया है। इस शील का अनुभव भक्त लोग करते हैं। इस प्रकार का अनुभव शुक्लजी ने भक्ति-साहित्य से लिया है। शील का बौद्धिक विवेचन शुक्लजी ने किया है। इस विवेचन के अन्तर्गत ही शुक्लजी का सौन्दर्यबोध सन्निहित है।

### 6 3 शील और सौन्दर्य

शुक्लजी ने श्रद्धा के तीन विषय माने—शील, कला और साधन-सम्पत्ति इन तीनों में विषय की महत्ता बतलाते हुए शुक्लजी लिखते हैं—

> "जन-साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य-मात्र की सामान्य स्थिति से है, उसके अभाव में समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रहती जिससे कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन-सम्पत्ति की प्रचुरता का विवरण और व्यवहार होता है।"[55]

शील को शुक्लजी धर्म के समकक्ष मान लेते हैं। लिखा है—

> "शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से रंजन, और साधन-सम्पत्ति से शील-साधन और प्रतिभा-साधन दोनों की संभावना है।"[56]

शील को शुक्लजी ने शक्ति तथा सौंदर्य से जोड़ा है। ऊपर की पंक्तियों में शील को धर्म के समकक्ष कहकर एक अर्थ में 'आचार: परमो धर्म' कह दिया है। इसी शील को शक्ति से जोड़ते हुए शुक्लजी क्षात्र-धर्म की बात कहते हैं। क्षात्र-धर्म की महत्ता स्थापित करते हुए वे लिखते हैं—

> "जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र-धर्म है। क्षात्र धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र धर्म ऐकान्तिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लोकरक्षा से है 'कर्मसौंदर्य' की योजना क्षात्र-जीवन में जितने रूप में संभव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप-माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुखभोग के साथ परदु:ख कातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलम्बन इत्यादि कर्म-सौन्दर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष योग और कहाँ घट सकते हैं ? इसी से क्षात्र धर्म के सौन्दर्य में जो मधुर आकर्षण है वह अधिक व्यापक, अधिक मर्मस्पर्शी और अधिक स्पष्ट है। मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।"[57]

संक्षेप मे शील के साथ धर्म, शील के साथ कर्म, शील के साथ शक्ति—इन सबका सौन्दर्य जुड़ा हुआ है।

## 6 4 शील का मनोविज्ञान

शुक्लजी ने मनोविकारो से सम्बन्धित जो निबन्ध लिखे हैं, उनमे 'शील' को किसी मनोविकार की पहचान का आधार माना गया है। यह मैं स्पष्ट कह दूं कि ये निबन्ध मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते हुए भी विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक नहीं हैं। इन्हे चाहे तो 'समाज-मनोविज्ञान'—के निबन्ध कह सकते हैं। ऐसा कहने का कारण यह है कि 'मनोविकार'—के सामान्य स्वरूप का विवेचन शुक्लजी ने किया है। अचेतन मन का विश्लेषण शुक्लजी ने नही किया है। मनोविकारो के विवेचन मे व्यक्ति-विशेष को ध्यान मे नहीं रखा गया है। समाज के सदर्भ मे व्यक्ति को ध्यान मे रखकर व्यक्ति के मनोविकारो का—चेतन स्तर के मनोविकारो का—विवेचन शुक्लजी करते हैं। और ऐसा करते समय मनोविकार को भाव का स्वरूप देते हुए अपना निबन्ध लिखते हैं। यूं कहिए कि मनोविकारो से सम्बन्धित निबन्ध 'भाव-दशा'—के निबन्ध हैं। मनुष्य-मात्र मे किसी भाव विशेष की जो सत्ता विद्यमान रहती है, उसका उद्घाटन शुक्लजी करते हैं। और फिर ये भाव एक नही हैं। नाना प्रकार के भावो से मनुष्य-मात्र का हृदय आन्दोलित रहता है। इन आन्दोलनों को पहचानने का प्रयत्न शुक्लजी ने किया है और इसे बौद्धिक रूप मे ऐसे अभिव्यक्ति दी जिससे कि हम भाव-विशेष के सत्स्वरूप से परिचित हो जाते हैं। किसी भाव का अन्त-साक्षात्कार हो जाए तो हम उसके सौन्दर्य से भी परिचित हो जाते हैं। जहाँ-जहाँ ऐसे स्थल आए हैं, वहाँ-वहाँ शुक्लजी भावुक हो गए हैं। शुक्लजी ऐसे स्थलो को या प्रसगो को 'मर्मस्पर्शी'—कहते हैं। ऐसा इसलिए कि इस प्रकार के प्रसगो मे मनुष्य-मात्र का हृदय डूबता-गहराता रहता है।

## 6 5 शील भक्ति के सदर्भ में

शुक्लजी ने 'भक्ति का विकास'—निबन्ध लिखा है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित पुस्तक 'सूरदास'—पुस्तक मे यह सकलित है। 78 पृष्ठो का निबन्ध है। भक्ति-आन्दोलन का विवेचन इसमे है। भक्ति के दार्शनिक पक्ष का, भक्ति के महत्त्व का तथा भक्ति के अलग-अलग रूपो का विवेचन शुक्ल जी ने विस्तार से किया है। इस निबन्ध मे 'शील' की व्याख्या, भक्ति के सदर्भ मे ही प्रस्तुत है। लिखा है—

> "प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता शंड (Shand) ने अपनी पुस्तक 'शील का आधार' (Foundation of character) मे यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि शील का मूल स्थान भावात्मक हृदय है,

निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं। व्यक्ति की व्यवहार-पद्धति जब प्रकृतिस्थ हो जाती है तब शील कहलाती है। जिस व्यवहार से दूसरे को किसी प्रकार की पीड़ा या कष्ट न पहुँचे, जिस व्यवहार से किसी की पीड़ा या कष्ट दूर हो, जिस व्यवहार से लोगों के सुख व सन्तोष में वृद्धि हो वह उत्तम शील या सुशीलता के अन्तर्गत माना जाता है। ऐसा व्यवहार जब तक व्यवहार करनेवाले को रुचिकर और आनन्दप्रद न होगा तब तक वह प्रकृतिस्थ नहीं कहा जा सकता। कोई बात रुचिकर या आनन्दप्रद हृदय को होती है। भक्त हृदय को ही जगाता है। जगाने की पद्धति बहुत सीधी है। भक्त भगवान के पालक, रक्षक और रंजक रूप को जीवन के ऐसे स्थलों के भीतर रखकर दिखाता है जहाँ उसका सौंदर्य फूट पड़ता है। भगवान की अनन्त शक्ति और अपार सौन्दर्य में उनके अनन्त शील की जो मधुधारा प्रवाहित होती है वह प्रकृति को मधुर कर देती है। जब तक इस मधुधारा का संचार नहीं होता तब तक प्रकृति की कटुता नहीं जाती।"[58]

गीता की सम्यक् दृष्टि का समर्थन करते हुए तथा भक्ति की महत्ता ज्ञापित करते हुए शुक्लजी लिखते हैं—

'गीता में भगवान ने स्पष्ट कहा है कि किसी शुभ गुण का—चाहे वह शील हो या सौन्दर्य, चाहे शक्ति या पराक्रम हो, चाहे ज्ञान या बुद्धि —जहाँ पूर्ण उत्कर्ष दिखाई पड़े वहाँ मेरी विशेष कला समझना। इस विशेष कला के सम्मुख सिर झुकाना सच्ची भक्ति का एक अंग है। इस सिर झुकाने से भक्ति की अनन्यता में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। यह सिर झुकाना शरणागत की दीनता नहीं है। यह श्रद्धा और सम्मान का भाव है जिसका सबसे उत्तम आश्रय भक्त का अहंभावशून्य हृदय है।"[59]

भक्त की सम्यक् दृष्टि और भक्तिमार्ग की सौन्दर्य-भावना का विश्लेषण करते हुए शुक्लजी बतलाते हैं—

"भक्त की सम्यक् दृष्टि वही कही जा सकती है जिसके सामने अन्तर्मुख शील-साधना और बहिर्मुख लोकधर्म पालन के बीच तथा 'साधारण-धर्म' और 'विशेष-धर्म' के बीच सामंजस्य स्पष्ट हो। हमारे भक्तिमार्ग की सौन्दर्य-भावना में लोकधर्म का सौन्दर्य भी सम्मिलित है। इसी से उसके भीतर पंडितों और विद्वानों की निन्दा, कर्मवीरों और लोकरक्षकों की अवज्ञा, अपनी सिद्धि और महत्ता के प्रचार की चेष्टा, उस चेष्टा से बाधक सामाजिक व्यवस्था में विक्षेप की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। लोकधर्म के साथ ही यही सामंजस्य भारतीय पद्धति

> के भक्तों की एक ऐसी पहचान है जो उन्हें विदेशी पद्धति के निर्गुण भक्तों से अलग करती है। यह भेद तुलसी, सूर, नन्ददास, हितहरिवंश इत्यादि भक्तों की रचनाओं को कबीर, दादू, मलूकदास इत्यादि की बानियों के साथ मिलाने से स्पष्ट हो जाता है।"[60]

ये कथन अपने आप मे इतने स्पष्ट हैं कि इनसे ज्ञात होता है कि शुक्लजी ने भक्त के हृदय का दर्शन कर लिया है और भक्त भगवान् के जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है, उस साक्षात्कार की स्थितियों से शुक्लजी परिचित हैं।

### 6 6 शुक्लजी का प्रिय चित्र : दडक वनचारी राम

मैं शुक्लजी के वैयक्तिक जीवन से एक उदाहरण देना चाहूँगा। चन्द्रशेखर शुक्ल ने शुक्लजी की जीवनी लिखी है। उसमे उन्होंने बतलाया है कि शुक्लजी को 'दण्डकवनचारी राम का रूप अन्य समस्त रूपो से अधिक प्रिय था। राम के उस रूप में उनका मन रमता रहता था। उनकी दृष्टि में पुरुषोत्तम का वह रूप था। इस सम्बन्ध मे चन्द्रशेखर शुक्ल ने लिखा है—

> "दण्डक के राम के सीतासमारोपितवामभाग वाला रूप और सीतान्वेषणपरायण रूप दोनो मे उन्हें अलौकिक शक्ति, शील और सौन्दर्य मिलता था। 1933 में अपनी कल्पना के अनुसार उनके इसी दूसरे रूप का एक सुन्दर चित्र अपने हाथ बनाकर उन्होने अपने शयनागार मे टाग रखा था। नित्य सवेरे वे इसका दर्शन करते थे। यह चित्र अधूरा है। इसमे कुछ परिवर्तन करके आयल पेंटिंग बनवाना चाहते थे। लेकिन संकल्प पूरा होने से पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया। इसे उन्होंने एक दाक्षिणात्य चित्रकार से रगवाया था। मूल चित्र अपने हाथ पेंसिल से खींचकर वे नित्य सवेरे उसे ठीक करके रगने के लिए दे देते थे। तीसरे पहर कालिज से लौटने पर रंगे हुए अश को देखते थे। इस तरह दो महीने में यह अर्धनिर्मित चित्र तैयार हुआ था। अब यह उनकी पुस्तकों के साथ उनके ज्येष्ठ पुत्र के यहाँ रखा है।"[61]

इस चित्र के बनने की रोचक कथा चन्द्रशेखर शुक्ल ने आगे और विस्तार से लिखी है। पडित केशवप्रसाद मिश्र शुक्लजी के अन्तरंग मित्र थे। शुक्लजी की अभिरुचियों से वे अच्छी तरह परिचित थे। कहते हैं 1929 मे उन्होंने अपने पडोस में घूमनेवाले एक अर्धविक्षिप्त चित्रकार से शुक्लजी का परिचय कराया। शुक्लजी कला प्रेमी थे और स्वय चित्रकार भी थे। वे चित्रकार की कला से प्रसन्न हो गये। उसे उन्होंने अपने पास रख लिया। वह चित्रकार लगभग सैंतीस महीने शुक्लजी के पास रह भी गया। दोनों वक्त वह भोजन शुक्लजी के पास ही करता था। 1933 मे शुक्लजी ने देखा कि चित्रकार कुछ करता नहीं है, तो उससे काम लेना शुरू कर

दिया। इस पर उसने आगे के लिए भाग की माँग की। शुक्लजी ने कुछ दिन और दी। चार छः महीने के बाद में रूपकराम ने चित्र की बाकी आधी को फिर वापस मांगने लगा। शुक्लजी इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सके। चित्रकार गायब हो गया। और इस तरह उक्त चित्र अधूरा रह गया। शुक्लजी ने स्वयं चित्र को पूर्ण करना चाहा किन्तु पूर्ण नहीं हो सका। वे चित्र पूर्ण करने से पहले ही चल बसे। शुक्लजी का साहचर्य उस चित्रकार के साथ लगभग तीन वर्ष से कुछ अधिक रहा। इस बीच उसने कुछ चित्र बनाकर दिये भी थे। शुक्लजी ने उसे सीताहरण तथा दण्डकवनचारी राम के चित्र बनाने कहा था। वह टालता रहा। बनाता और बिगाड़ता। अन्तत शुक्लजी ने स्वयं पेंसिल से दण्डकवनचारी राम का चित्र एक सप्ताह में पेंसिल से तैयार किया और रंग देने का काम चित्रकार को दिया। पहाड़ों को छोड़कर बाकी का रंग का काम रह गया और बाद में तो वह चला गया। यह सारा विवरण चन्द्रशेखर शुक्ल ने अपनी पुस्तक में दिया है।[62] इस प्रसंग को विस्तार देने का कारण शुक्लजी के सौन्दर्यबोध को स्पष्ट करना है। यह प्रसंग बिहारी के निम्नलिखित दोहे का स्मरण दिलाता है—

> लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
> भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥ 347 ॥

(बिहारी रत्नाकर)

कारण यह है कि शुक्लजी स्वय चित्रकार थे। अपनी योजना के अनुसार चित्र बनाना चाहते थे। अपनी योजना चित्रकार को बतलाई। चित्रकार निर्देशन के अनुसार चित्र बनाता बिगाड़ता रहा और अन्त तक चित्र शुक्लजी की योजना के अनुसार नहीं बन सका। अन्तत चित्रकार ने शुक्लजी से कहा कि आप ही बनाइये। विवश होकर अपनी योजना से पेंसिल से चित्र तैयार करने में भी शुक्लजी को एक सप्ताह लग गया। चित्र बन जाने पर भी रगने का काम उन्होंने चित्रकार को दिया, जिसे चित्रकार पूरी तरह का रंग नहीं दे पाया। शुक्लजी नियमित अपने कार्य से जब घर लौटते तो पहले चित्र देखते। यह क्रम उनका बरसों चला। चित्र अधूरा ही रहा और वे चल बसे। यह सारा प्रसग बिहारी के दोहे को सार्थकता प्रदान कर रहा है। शुक्लजी स्वय चित्रकार थे और चित्रकार से सहायता भी ली और फिर भी चित्र बन नहीं सका। सौन्दर्य की जो छवि शुक्लजी चित्र में अंकित करना चाहते थे, वह छवि अंत तक उनके मन में ही रह गई। उक्त छवि की कुछ पंक्तियाँ अपनी कविता में अंकित की हैं। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> "जिस दण्डकवन में प्रभु की कर-दंड-चंड-ध्वनि भारी।
> सुनकर कभी हुए थे कंपित निशि

वही शक्ति वह झलक उठी झंकार सहित भयहारी।
दहल उठा अन्याय उठी फिर मरती जाति हमारी ॥ [63]

शुक्लजी के प्रकृति-प्रेम के सम्बन्ध में विस्तार से लिखना नही चाहूँगा। प्रकृति के सौन्दर्य पर शुक्लजी ने दिल खोलकर लिखा है और ऐसे स्थलो पर वे अत्यधिक भावुक भी हो गये हैं। प्रकृति को आलम्बन मानकर जिन कवियों ने प्रकृति का चित्रण किया उन कवियों की शुक्लजी ने मुक्त-कंठ से सराहना की है। हिन्दी की तुलना मे संस्कृत कवियों का प्रकृति-चित्रण शुक्लजी को अधिक प्रिय लगा। यह सब उन्होंने विस्तार से अपने निबन्ध 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'—मे लिखा भी है। मेघदूत मे शुक्लजी ने सौंदर्य देखा है। वाल्मीकि रामायण की भी वे इस दृष्टि से सराहना करते हैं। शुक्लजी प्रकृति के सहज रूप के प्रेमी हैं। शुक्लजी के सौंदर्यबोध को जानने के लिए उनके प्रकृति-प्रेम का विश्लेषण आवश्यक समझता हूँ। किन्तु प्रस्तुत लेख में यह विवेचन विषय मे बाह्य हो जाएगा। अतः चलते ढग से इस प्रकृति प्रेम को मानवीय प्रकृति से युक्त कर मैं शुक्लजी के सौंदर्यबोध को स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा।

### 67. शील काव्यशास्त्रीय प्रतिमान

भक्ति-साहित्य मे शुक्लजी ने सौंदर्य का अनुभव किया है। इस अनुभव ने उन्हें साहित्यिक मूल्यांकन के प्रतिमान दिये हैं। इस अनुभव से सम्बन्धित कुछ उदाहरण मैंने ऊपर दिये भी हैं। इनमे मैंने 'शील' को सौंदर्यबोध का प्रतिमान कहा है। शुक्लजी ने अपनी ओर से कोई शास्त्र नही लिखा। न तो उन्होंने काव्य शास्त्र लिखा और न ही कोई सौंदर्यशास्त्र। इस पर भी उनका लेखन ऐसा है कि उन्हे आचार्य मान लिया जाता है। कोई व्यक्ति सिद्धान्तों की पुस्तक लिखे या शास्त्र को शास्त्र के रूप मे लिखे तो उसके शास्त्र-चिन्तन पर विवेचन सरल हो जाता है। शुक्लजी ने ऐसा लिखा ही नही। शुक्लजी अपने लेखन मे अधिक व्यावहारिक हैं। उनके व्यावहारिक लेखन में उनका शास्त्र निहित रहता है। वे अपने शास्त्र का उपयोग पहले कर लेते हैं। और तब लिखते हैं अपने शास्त्र को समझाने के लिए—यों कहिए कि सिद्धान्त चर्चा के लिये—निबन्ध लिखना, उन्हें सब से ठीक लगा। यों तो उनकी व्यावहारिक समीक्षाओ मे भी सिद्धान्त-चर्चा मिल जाएगी। यदि शुक्लजी का सौंदर्यशास्त्र लिखना पड़े तो यह सौंदर्यशास्त्र उनके काव्यशास्त्रीय प्रतिमानो मे ही मिलेगा। वस्तुतः काव्यशास्त्र को सौंदर्यशास्त्र से अलगाया नही जा सकता।

काव्यशास्त्र मे शुक्लजी को 'रसवादी आचार्य'—कहा गया है। साधारणीकरण से सम्बन्धित निबन्ध उनका उत्कृष्ट निबन्ध है। यह अपने आप में मौलिक और अधिक व्यावहारिक है। साधारणीकरण का प्रतिमान क्या है? निश्चित ही

अपने को प्रगट [illegible] देना पड़ेगा। शुक्लजी का साधारणीकरण का सिद्धान्त [illegible] शास्त्र के [illegible] आचार्यों पर निर्भर नहीं है। उन्होंने साधारणीकरण सम्बन्धी [illegible] आचार्यों से ली है किन्तु [illegible] आगे बढ़ के और नहीं लिया, जिसे [illegible] समझते हैं। यह तब संभव [illegible] दोनों का शील [illegible] तब तक तादात्म्य नहीं हो सकता है। जहाँ तादात्म्य की स्थिति होगी, वहीं पर साधारणीकरण होगा। शीलवैचित्र्य के कारण तादात्म्य से इतर शुक्लजी रस की कोटियाँ बतलाते नहीं हैं। [illegible] रूप से शुक्लजी के अनुसार [illegible] [illegible] में भी [illegible] तादात्म्य के नहीं होते और ऐसे प्रसंगों के लिए उन्होंने देखा कि उसका [illegible] कोई [illegible] हो नहीं है, तो उन्होंने अपनी ओर से रस की कोटियाँ बना दीं। तादात्म्य को [illegible] ही उत्पन्न मानते हैं और उनका कहना है कि तादात्म्य [illegible] वैचित्र्य नहीं होता। शीलवैचित्र्य के कारण शुक्लजी को साधारणीकरण का [illegible] प्रस्तुत करना पड़ा और उसे उन्होंने [illegible] [illegible] कहा भी है।

## 6.8 शील : मानव चरित्र का आधार

शील---जो शुक्लजी के काव्यशास्त्रीय प्रतिमान का आधार है, ठीक उसी तरह शुक्लजी को सौंदर्यशास्त्री के रूप में जानना हो तो इसी प्रतिमान पर विचार करना पड़ेगा। शील—के मनोविज्ञान से शुक्लजी परिचित हैं। मानवीय प्रकृति की पहचान उन्होंने इसी संदर्भ में की है। यह पहचान तत्त्वचिंतक के रूप में की है। उनके इस रूप को जानने की कोशिश नहीं की गई है। इस रूप में तत्त्वचिंतक के रूप में लिखने की उनकी इच्छा भी रही हो। रसमीमांसा--पुस्तक में इस विषय की अच्छी सामग्री है। इस सामग्री को शुक्लजी व्यवस्थित रूप नहीं दे सके हैं। शील को आधार बनाकर उन्होंने लेखन तो अन्य रूपों में अन्य-अन्य पुस्तकों में किया है किन्तु जहाँ तक तत्त्वचिंतन का प्रश्न है, वह इसी पुस्तक में है। शुक्लजी ने 'प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव बतलाया है' भाव का विवेचन साहित्य को केन्द्र में रखकर किया गया है। इस दृष्टि से भाव की तीन दशाएं बतलाई गई हैं और वे हैं—(1) भावदशा, (2) स्थायीदशा, और (3) शीलदशा। शीलदशा का समूह शुक्लजी ने बहुत बड़ा माना है। शीलदशा का उपयोग साहित्य में —काव्य में कहना चाहिए—किस तरह होता है, इस पर उन्होंने विस्तार से लिखा है। शीलदशा का उत्कर्ष शुक्लजी को प्रबन्ध काव्यों में दिखलाई दिया। विशेष रूप से भक्ति-साहित्य में और उसमें भी रामचरितमानस में। लिखा है—

> "उच्च लक्ष्य रखनेवाले, मनुष्य की प्रकृति का संस्कार या निर्माण की सामर्थ्य रखनेवाले प्रबन्ध काव्य या नाटक के चरित्र-चित्रण का आधार

'शील-दशा'—ही है। रामायण मे राम की धीरता और गंभीरता, लक्ष्मण की उग्रता और असहनशीलता, बडो के प्रति भरत की श्रद्धा-भक्ति इत्यादि का चित्रण भिन्न-भिन्न अवसरो पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के प्रति किए हुए अवसरों के मेल से ही हुआ है। आलम्बन का स्वरूप सघटित करने मे उपादान स्वरूप होकर 'शीलदशा' रसोत्पत्ति मे पूरा योग देती है। आश्रय की दृष्टि जिस प्रकार आलंबन के बाह्य रूप पर जाती है उसी प्रकार उसके आभ्यंतर स्वरूप पर भी जाती है। इस आभ्यतर-स्वरूप की योजना भिन्न-भिन्न शीलों से ही होती है। आलम्बन की रूप की धारणा से जिस जिस प्रकार आश्रय मे अश्रु, पुलक आदि अनुभाव प्रकट होते हैं उसी प्रकार उसकी शील की धारणा से भी। जिसमे शील को देख सुनकर इस प्रकार ये अनुभाव न प्रकट हों गोस्वामी तुलसीदास उसे जड समझते हैं।"[64]

पक्तियो के तुरन्त बाद मे शुक्लजी ने गोस्वामीजी का विनयपत्रिका का पद नि सीतापति सीलु सुभाउ, मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर उ' (पद संख्या 100)। निश्चित ही शुक्लजी का शील-विवेचन का आधार स्वामी तुलसीदास है। इस नाते भक्ति-साहित्य शुक्लजी के सौन्दर्यबोध का भी धार है। शील से सम्बन्धित मनोविज्ञान पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की वश्यकता है। मैं विषय को समेटते हुए अति संक्षेप में शील तथा सौंदर्य का न्बन्ध बनलाकर शुक्लजी के सौंदर्यबोध को स्पष्ट करना चाहूँगा।

शील मानव चरित्र का आधार है। जो भाव मनुष्य-मात्र में प्रकृतिस्थ रहते और जिनकी सत्ता के कारण मानवीय व्यवहार नाना रूपों मे होते रहते हैं, वे ह शील के कारण हैं। शील के कारण भावयोग होता है और जिसे शुक्लजी मैयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं। शुक्लजी शील-साधना के पक्षपाती और यह साधना शील के साक्षात्कार के बिना कैसे सभव है ? शील के क्षात्कार मे सौंदर्य का दर्शन होता है। इस नाते शील-साधना सौंदर्यानुभव के लए आवश्यक मानना चाहिए।

### 9. शील का उत्कर्ष : पुरुषोत्तम राम

शील का उत्कर्ष पुरुषोत्तम राम मे देखा गया है। इस उत्कर्ष के स्थल राम-चरितमानस मे जगह-जगह पर हैं। कुछ उदाहरण आरम्भ मे ही मैंने दे दिये हैं। राम के शील को जब दूसरे पात्र अपने मन मे लाएंगे और इस तरह मन में ... मे वे अपने निजी शील के आधार पर राम के शील को समझेंगे, तो यह ...साधना होगा। मानवीय प्रवृत्ति इसमें निर्मल होती है। अहंभाव का प्रभु रामचन्द्र के शील का साक्षात्कार हो तो कैसे ? यह सब

श्रद्धा-भक्ति के रूप में संभव है। इसीलिए शील-साधना-श्रद्धा-भक्ति के आधार ही संभव है। भक्तों के हृदय में प्रभु का वास इसी रूप में रहता है। किसी के दं... से रीझकर यदि हम मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हैं या स्तुतिपाठ करते हैं तो प्रकार के प्रशस्तिगान या स्तुतिपाठ में जिस रूप का साक्षात्कार किया जाता और जिन रूपों और प्रसंगों का उल्लेख होता है, वे सारे रूप सौंदर्यानुभव के हैं विनयपत्रिका में जो प्रशस्ति गान है, वह सौंदर्य के साक्षात्कार से युक्त है। मनु आध्यात्मिक प्राणी है और अध्यात्म के रूप-गुण सौंदर्य से युक्त होते हैं। शुक्ल सगुण के पक्षपाती हैं क्योंकि वे मूर्त रूप में अध्यात्म को अनुभव करना चाहते हैं

## 6 10 शील और सौंदर्यबोध का प्रतिमान

शुक्लजी का सौंदर्यबोध भक्ति-साहित्य पर आधारित है। अतः इसी सौंदर्य बोध को प्रतिमान मानकर उन्होंने अन्य कालों के कवियों तथा साहित्यकारों का मूल्यांकन किया है। रीतिकाल के सम्बन्ध में तथा छायावाद तथा शुक्लजी के समकालीन अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में जो निर्णय शुक्लजी के द्वारा दिये गये हैं, उनमें शील ने साहित्यिक नैतिकता का बाना ग्रहण किया है। बहुत से विद्वान् शुक्लजी के नीतिविधान से प्रसन्न नहीं हैं। वे इस प्रकार के मूल्यांकन को अप्रासंगिक भी मानते हैं। प्रश्न है क्या शुक्लजी का नीतिविधान बौद्धिक मात्र है ? क्या इसमें मानवीय चित्तवृत्तियों की मार्मिक पहचान नहीं है ? क्या शील को मानवीय प्रकृति का मूल आधार नहीं मानना चाहिए ? ये सब प्रश्न ऐसे हैं, जिनका उत्तर इस समय मैं तार्किक रूप में नहीं दे पाऊँगा। मैं तो सौंदर्य के साक्षात्कार की बात कर रहा हूँ और इस तरह से विचार करने पर मुझे अनुभव होता है कि शुक्लजी ने अपने साहित्यिक प्रतिमान को बौद्धिक दीप्ति के साथ अभिव्यक्ति प्रदान की है। यह उनकी अपनी निजी अभिरुचि का प्रश्न भी है। और अभिरुचि के बिना सौंदर्य को आप कैसे जानेंगे ? शुक्लजी का सौंदर्यबोध केवल भक्ति-साहित्य तक सीमित नहीं है। शुक्लजी ने रीतिसाहित्य में भी सौंदर्य देखा है, छायावाद के सौंदर्य से भी वे परिचित हैं। अपने इस परिचय को उन्होंने अभिव्यक्ति प्रदान की है। फिर भी यह सत्य है कि 'मनियत सबै राम के नाते' हैं। भक्ति साहित्य का प्रतिमान सर्वत्र मौजूद रहा है। इसे आप शुक्लजी की सीमा मानो या उत्कर्ष मानो, यह मैं आप सब पर छोड़ता हूँ। यों भी सौंदर्यबोध की अपनी अपनी सीमाएँ होती ही हैं। शुक्लजी का सौंदर्यबोध 'शील' पर आधारित है।

□□□

# 7. क्षितिज और अन्तराल के कवि

### 7.1 क्षितिज और अंतराल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास का काल फलक 1050 सवत् से 1984 सवत तक—लगभग 934 वर्षों तक—फैला हुआ है। इस काल फलक को स्थूल रूप में चार भागो मे बाँट दिया गया है। इनमे प्रथम दो काल—वीरगाथा काल और भक्ति काल—650 वर्षों के हैं। वीरगाथा काल 325 वर्षों का है और भक्ति काल भी 325 वर्षों का है। रीतिकाल 200 वर्षों का और सबसे कम काल आधुनिक काल का है—84 वर्ष मात्र। और फिर इन 84 वर्षों में तीन उत्थान हो गए हैं। हमारा आधुनिक काल का अन्तराल कम है किन्तु वीरगाथा काल का अन्तराल अधिक है। इतिहास मे हम जैसे-जैसे अतीत की ओर मुडते हैं—अन्तराल बढता जाता है, जैसे-जैसे आधुनिक की ओर आते जाते हैं अन्तराल घटता जाता है। वीरगाथा काल हिन्दी साहित्य के इतिहास के क्षितिज पर है। हमारे लिए वह प्राचीन है। भक्तिकाल को हम मध्यकाल मानते हैं। प्राचीन [जिसे आदिकाल भी कहा गया] और मध्यकाल मे भी अन्तराल है। आचार्य शुक्ल के इतिहास मे काल-प्रवृत्ति में बहुत से कवि बैठे नहीं। ऐसे कवियो को अपने सिद्धान्त की रक्षा हेतु आचार्य प्रवर ने फुटकल खाते मे डाल दिया। ऐसे कवि इतिहास की धारा के कवि नहीं हैं। ऐसे कवियो पर—जिनकी ओर आचार्य शुक्ल की दृष्टि गई तो है किन्तु उनको उन्होंने अलगा दिया है, उन पर—यहाँ विचार कर रहा हूँ।

प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास पर जो काम करते हैं, वे जानते हैं कि काल के क्षितिजों को पकडना और बीच के अन्तरालों को पाटना बडा जटिल कार्य है। ई० एच० कार ने इस सम्बन्ध मे लिखा है—

> "मुझे लगता है कि आज भी प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास का यह एक प्रमुख आकर्षण है कि हम अक्सर इस भ्रम के शिकार हो जाते हैं कि उस काल के तमाम तथ्य हमारी पहुँच की परिधि मे सुविधापूर्वक प्राप्त हैं। ऐतिहासिक तथ्यो तथा दूसरे सामान्य तथ्यो के बीच जो खाई निरन्तर बनी रहती है वह हमारे दिमाग से गायब

> हो जाती है क्योंकि हम इन सब को लेते हैं जो बीते से [illegible] है, [illegible] है। [illegible] इतिहास [illegible] यह काल [illegible] से [illegible] था; [illegible] इतिहास को पुराने [illegible] से भरी रही है।' [[illegible] 1937 ई० पृष्ठ 52] इतिहास को एक [illegible] माना गया है जिसमें कई दोष व्याप्त हैं।"65

तात्पर्य यह है कि प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास में [illegible] चाहे वह [illegible] इतिहास हो व साहित्यिक इतिहास हो—दोनों ही अंधकारों में हैं। इतिहास के क्षितिज और [illegible] स्पष्ट होने तो इतिहास के प्रति हम धारणा बदलेगी।

### 7.2 वीरगाथाकाल : हिन्दी साहित्य का क्षितिज

वीरगाथाकाल के अन्तर्गत आचार्य प्रवर ने कुल 12 रचनाओं पर वि किया। मुख्य प्रवृत्ति वीरगाथा की मानकर काल का नामकरण वीरगाथा का किया। मजेदार बात यह है कि इतिहास की मुख्य धारा में जिन रचनाओं रखकर नामकरण किया, वे रचनाएँ संदिग्ध हैं। और देखिए जिन दो कवियों आचार्य शुक्ल ने फुटकर खाते में डाल दिया, वे दोनों ही कवि संदिग्ध नहीं हैं संदिग्ध कवियों के आधार पर नामकरण और असंदिग्ध कवियों को खाते से बाह कर देना—यह कैसी बात है? वीरगाथा कालीन क्षितिज के दो कवि हैं—(1) अमीर खुसरो, और (2) विद्यापति।

### 7.3 अमीर खुसरो

अमीर खुसरो हिन्दी साहित्य के क्षितिज का कवि है। खड़ी बोली से सम्बन्धित उस काल का और कोई कवि हमें नहीं मिलता। वस्तुतः अमीर खुसरो जिस भाषा में लिख रहा था, वह हिन्दुई या हिन्दवी भाषा थी [खड़ी बोली—नाम उस काल का नहीं है] इस कवि के काव्य की उत्तम पहचान ही नहीं अपितु भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की टिप्पणी बहुत उत्तम है। अमीर खुसरो के अन्य समकालीन उत्तर-दक्षिण के कवियों का परिचय शुक्लजी को मिला ही नहीं, यदि वे दक्खिनी साहित्य से परिचित होते तो कुछ और लिखते। दक्खिनी साहित्य पर बाद में राहुल जी ने काम किया और अब तो दक्खिनी साहित्य पर बहुत-सी पुस्तकें छप गई हैं। डॉ० वासुदेव सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का उद्भव काल' पुस्तक लिखी है। उक्त पुस्तक में खड़ी बोली तथा दक्खिनी का हिन्दी साहित्य स्वतन्त्र अध्याय है।66 यह सब होने पर भी दक्खिनी साहित्य वीरगाथा काल से जुड़ नहीं सका है।

4 विद्यापति

विद्यापति फुटकल खाते में दूसरा नाम है। अमीर खुसरो पश्चिमी हिन्दी की सीमा है तो विद्यापति पूर्व की हिन्दी की सीमा है। विद्यापति की भाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए हिन्दी भाषा के भौगोलिक प्रसार के सम्बन्ध में शुक्लजी ने विद्यापति की भाषा को हिन्दी के अन्तर्गत मानते हुए लिखा है—

> "खड़ी बोली, बागड़ू, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलने वाले एक-दूसरे की बोली समझते हैं।...अत. जिस प्रकार हिन्दी साहित्य बीसलदेवरासो पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।"67

अमीर खुसरो की भाषा पर भी इस तरह की टिप्पणी मिलती है। अमीर खुसरो की भाषा का उल्लेख आगे कबीर के प्रसंग में तथा खड़ी बोली के इतिहास के प्रसंग में अन्यत्र भी शुक्ल जी ने किया है। सूरदास की भाषा को देखकर जैसे सूर पूर्व ब्रज भाषा सम्बन्धी अनुमान लगाने लगते हैं, ठीक वैसे तो अनुमान नहीं करते किन्तु इन कवियों की काव्यभाषा पर शुक्लजी का ध्यान गया है। अमीरखुसरो हो या विद्यापति—इन दोनों ही कवियों की विषय वस्तु [काव्य प्रवृत्ति] का परिचय शुक्ल जी ने दिया है। दोनों ही कवियों के उदाहरण भी शुक्लजी ने दिये हैं। विद्यापति को कृष्ण भक्त कवि नहीं मानते। शृंगारी कवि कहना ही ठीक समझा। मैथिली में विद्यापति से पहले कौन-सी परम्परा मिलती है या अमीर खुसरो से पूर्व खड़ी बोली की क्या परम्परा रही होगी? ये प्रश्न हमारे सामने हैं। ये दोनों ही कवि भाषाविद् थे—एक से अधिक भाषाएँ जानते थे और लिखते थे। अमीर खुसरो कृत 'खालिक़ बारी' का सम्पादन डॉ० श्रीराम शर्मा ने किया है। उक्त सम्पादन की भूमिका में लिखा है—

> "अमीर खुसरो अनेक भाषायें जानते थे। तुर्की उनकी पितृभाषा थी और माँ सम्भवत हिन्दी बोलती थी। फारसी भी मातृ भाषा के समान थी। अरबी के ज्ञाता थे। संस्कृत से परिचय था। हिन्दी से सम्बन्धित कई बोलियों का ज्ञान था।"68

अमीर खुसरो के समय ही दक्षिण में हिन्दवी पहुँच गई थी। दक्खिनी के साहित्य से आचार्य शुक्ल परिचित नहीं थे। अत वे कुछ लिख नहीं पाए।

जैसे अमीर खुसरो भाषाविद् था—वैसे ही विद्यापति संस्कृत, अपभ्रंश, मैथिली भाषाओं का ज्ञाता था।

या है। इनके नाम हैं—1. छीहल 2 लालदास 3. कृपाराम 4. महापात्र नरहरि
दीजन 5 नरोत्तमदास 6 आलम 7. महाराज टोडरमल 8. महाराज बीरबल
गग 10. मनोहर कवि 11. बलभद्र मिश्र 12. जमाल 13. केशवदास 14
तराय 15. रहीम 16 कादिर 17. मुबारक 18. बनारसीदास 19 सेनापति
) पुहकर 21. सुन्दर 22 लालचन्द या लब्धोदय।

ये सभी कवि भक्तिकाल के हैं। अन्तराल के कवि है। अमीर खुसरो और
द्यापति तो क्षितिज के कवि हैं। ये कवि क्षितिज के नही हैं। अन्तराल के कवि
हने का कारण यह है कि भक्ति के मुख्य प्रवाह मे बैठते नहीं हैं किन्तु इन कवियो
ी भी एक परम्परा है। केशव को ही लीजिए। वह वीरगाथा काल में बैठाया जा
कता है, भक्तिकाल मे भी और रीतिकाल मे भी। भक्तिकाल का कवि होने पर
ी आगे-पीछे की परम्पराएँ उसमें एक साथ इस तरह आबद्ध हैं कि रामचंद्रिका
नेखने पर भी राम भक्त कवियों मे उसे जगह नही मिल सकी। शुक्लजी ने उसे
ाहर कर दिया। ऐसे सभी कवि जो काल की मुख्य प्रवृत्ति से जुडते नही, किन्तु
फेर भी महत्त्वपूर्ण कवि हैं—ऐसे कवियों की विशिष्ट पहचान शुक्लजी ने दे दी
ै। भक्तिकाल के इन फुटकल कवियो की भी एक परम्परा है जो सस्कृत, प्राकृत,
अपभ्र श होते हुए हिन्दी मे आई है। वीरगाथा काल के क्षितिज के कवियो में भी
पूर्व परम्परा को अपभ्रंश आदि के साथ पहचाना जा सकता है—विशेष रूप से
विद्यापति मे—किन्तु भक्तिकाल मे तो यह परम्परा अधिक स्पष्ट है। केशवदास
तो ओरछा दरबार के कवि हैं किन्तु भक्तिकाल के इन फुटकल कवियों मे अकबरी
दरबार के और कवि आते हैं। अमीर खुसरो तथा विद्यापति भी दरबारी कवि
थे। दरबारी कवियों की दीर्घ परम्परा पहले से चली आ रही है। रीतिकालीन
दरबारी कवियों की परम्परा हिन्दी मे विद्यापति से चली आ रही है। इन सब
कवियों पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है।

> समय हुआ जब संस्कृत काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था। इसीसे हिन्दी की कविताओं मे प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है। केशव के पीछे तो प्रबन्ध काव्यों का बनना एक प्रकार से बन्द ही हो गया।"[23]

वीरगाथाकाल तथा भक्तिकाल के कवियों पर ही—फुटकल कवियों के—उतना विचार हो रहा है। और आचार्य शुक्ल ने इन दोनों ही कालों के कवियों में प्रबन्ध काव्य लिखने वाले खोजते रहे हैं। केशव तक आचार्य शुक्ल को प्रबन्ध काव्यों की परम्परा मिलती है। क्या करें? जो है उसके आधार पर ही तो निर्णय करना है। वीरगाथा काल—नामकरण के निर्णय में संदिग्ध क्यों न हो—ये तो प्रबन्ध काव्य। आचार्य शुक्ल ने खुमानरासो, बीसलदेव रासो का कथानक तक इतिवृत्त मे लिख दिया है। पृथ्वीराज रासो और अन्य काव्यों का विवेचन भी विस्तार से किया है। रासो ग्रन्थ भले ही बाद में रचे गये हों किन्तु उनका कथानक पृथ्वीराज चौहान के समय का है। रचनाओं के ऐतिहासिक काल को ही [संदिग्ध होने पर भी] वीरगाथा काल के अनुसार मान लिया गया है। फुटकल वृत्ति के कवि शुक्लजी के साहित्य-विवेक मे बैठे ही नहीं है। भक्तिकाल मे तुलसीदास या कृष्ण भक्ति शाखा के बाद सूफी शाखा के कवियों की ओर ध्यान जाने का एक कारण प्रबन्धात्मक रूप में लिखना भी है। प्रबन्धात्मक लेखन के बाद शुक्ल जी के काव्य विवेक का एक आधार 'प्रकृति चित्रण' भी है। प्रबन्धात्मक लेखन न करने पर भी किसी कवि ने यदि प्रकृति-चित्रण उत्तम किया है तो उसकी सराहना शुक्लजी ने की है। प्रबन्धात्मक लेखन तो किया और प्रकृति-चित्रण उत्तम नहीं है तो उस सम्बन्ध मे भी साफ-साफ कह दिया। अपनी साहित्यिक अभिरुचि के अनुसार शुक्लजी ने कवियों के सम्बन्ध मे निर्णय दिये। अपने निर्णय को बौद्धिक आधार दिया। इतिहास मे काव्य की प्रवृत्ति बतलाते समय—युग के साथ प्रवृत्ति को जोड़ते समय उन्होंने प्रबन्धात्मक लेखन को अधिक महत्त्व दिया, जिसके लिए उनके पास बौद्धिक कारण थे। किन्तु क्या प्रबन्धात्मक लेखन को आधार न बनाने वाले कवियों की उपेक्षा [illegible] हुई? ऊपर से देखने पर यह स्थूल रूप में ऐसी प्रतीत हो सकती है। [illegible]

बहुत से मये कवि प्रकाश में आ गए हैं किन्तु वे सब के सब आज भी फुटकल खाते के कवियों की तरह हैं। उनकी साहित्यिक पहचान पूरी नहीं बन पाई है। शुक्ल जी की साहित्यिक अभिरुचि बडी बलवान है। उनकी उस अभिरुचि का विरोध हुआ है और हो रहा है किन्तु आज भी हम अनुभव करते हैं कि जो कवि उनकी अभिरुचि में नहीं बैठे, उन्हें अब तक साहित्य के इतिहास के मुख्य प्रवाह में नहीं जोड सके हैं। आज भी वे क्षितिज तथा अन्तराल के कवि ही हैं।

### 7.9. आचार्य शुक्ल का चयन

साहित्यिक अभिरुचि के सम्बन्ध मे सकेत मात्र के रूप मे ही ऊपर लिखा है। इस वृत्ति के कारण रचनाओ का चयन शुक्लजी ने बहुत सोच-समझकर किया है। कवियो की या रचनाओं की सूची बढ़ाने का आग्रह या प्रयत्न उनका रहा ही नही है। मिश्र-बन्धुओं की सूची —अम्बार रूप मे—उनके सामने थी। किन्तु शुक्लजी ने चयन मे अभिरुचि (साहित्य-विवेक) का ध्यान रखा है। फुटकल खाते के कवियो की सख्या पर उनका विशेष ध्यान नही रहा है। दो-चार बढ जाए या घट जाए—इतिहास के प्रवाह पर कोई खास प्रभाव पडने वाला नही है, यह बात वे अच्छी तरह जानते थे। फुटकल कवियो मे जो कवि आख्यानपरक लिखने वाले थे, उनकी तालिका शुक्लजी ने अलग से दी है। यह विशेष चयन और उनके सबध मे टिप्पणी बडी महत्त्वपूर्ण है। शीर्षक है—सूफी रचनाओ के अतिरिक्त भक्ति-काल के अन्य आख्यान काव्य। ऐसे काव्यो को शुक्लजी ने वर्गीकृत किया है—तीन भागो मे बाँट भी दिया है—(1) ऐतिहासिक पौराणिक (2) कल्पित और (3) आत्मकथा। ऐतिहासिक पौराणिक के अन्तर्गत आठ रचनाएँ हैं—1 रामचरित मानस (तुलसी) 2 हरिचरित्र (लालदास); 3. रुक्मिणी मगल (नरहरि) 4 रुक्मिणी मगल (नददास) 5 सुदामाचरित्र (नरोत्तमदास) 6. रामचन्द्रिका (केशव) 7. वीरसिंहदेवचरित (केशव) और 8 वेलि किसन रुकमणी री (जोधपुर के राठौड राजा प्रिथीराज)। कल्पित के अन्तर्गत 7 रचनाओं का उल्लेख हुआ है—1 ढोला मारू रा दूहा (प्राचीन) 2. लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (दामो कवि) 3 सत्यवती कथा (ईश्वरदास) 4 माधवानन्द कामकदला (आलम) 5 रसरतन (पुहकर कवि) 6 पदमिनी चरित्र (लालचन्द) और 7 कनक मजरी (काशीराम)। आत्मकथा के अन्तर्गत एक ही रचना दी है और वह है अर्धकथानक (बनारसीदास)। यह तालिका, तालिका मात्र नहीं है। ऊपर और नीचे जो टिप्पणियाँ हैं, उनसे लगता है कि इन रचनाओं की पहचान के बाद ही उन्हें तालिका में जगह दी गई है। तालिका के तुरन्त बाद की टिप्पणी इस प्रकार है—

"ऊपर दी हुई सूची में 'ढोला मारू रा दूहा' और 'वेलि किसन रुकमणी

री' राजस्थानी भाषा में है। ढोला मारू की प्रेमकथा राजपूताने
बहुत प्रचलित है। दोहे बहुत पुराने हैं, यह बात उनकी भाषा में
जाती है। बहुत दिनों तक मुखाग्र ही रहने के कारण बहुत से
लुप्त हो गए थे, जिससे कथा की शृंखला बीच-बीच में खण्डित हो
थी। इसी से संवत् 1618 के लगभग जैन कवि कुशल लाभ ने
बीच में चौपाइयाँ रचकर जोड़ दी। दोहों की प्राचीनता का अ
इस बात से हो सकता है कि कबीर की साखियों में ढोला मा
बहुत से दोहे ज्यों के त्यों मिलते हैं।
" 'वेलि किसन रुकमिणी री' जोधपुर के राठौर राजवंशीय स्व
भिमानी पृथ्वीराज की रचना है जिनका महाराणा प्रताप को
भरा पत्र लिखना प्रसिद्ध है। रचना प्रौढ़ भी है और मार्मिक
इसमें श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा है।
पद्मिनी चरित्र की भाषा राजस्थानी मिली है।"[73]

इन पंक्तियों में रचनाओं की पहचान है। विशेष बात यह है कि
कवियों का विवरण जहाँ समाप्त हुआ, वहाँ पर यह तालिका अलग से दी है
तालिका में सूफी कवियों के प्रबन्ध काव्य नहीं है किन्तु अन्य सभी—भक्ति
की धाराओं के और फुटकल के—आख्यान काव्य हैं। रामचरित मानस के
वीरचरित और रामचन्द्रिका भी हैं। यहाँ पर केशव को तुलसी से अलगाय
गया है। यह तालिका शुक्लजी के चयन को सूचित करती है। इस सूची में
कवियों और रचनाओं का विवेचन (रामचरित मानस) और रामचन्द्रिका
सम्बन्धित कवियों का परिचय देते हुए पहले ही कर दिया गया है। प्रबन्ध
लिखने मात्र से कवि को भक्त नहीं माना। अन्यथा रामचन्द्रिका के आधा
रामभक्त कवियों के अन्तर्गत रखा जा सकता था। कृष्णभक्त कवियों ने
बहुत कम लिखे हैं और जो लिखे भी हैं, उन्हें ठीक ठीक प्रबन्ध काव्य कहना
है फिर भी आचार्य शुक्ल ने केवल काव्यरूप के आधार पर अपने निर्णय
दिए। सूरदास तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों के सम्बन्ध में यथोचित लिख
सूरदास पर लिखते समय तुलसी बराबर याद आते हैं। ऐसा तुलसी के साथ
हुआ है। तुलसी पर लिखते समय अन्य कवियों का उल्लेख उस रूप में नहीं
है। तुलसी में सभी प्रकार की काव्य शैलियाँ बतलाने के लिए अन्य कवियों
उनकी शैलियों का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है। अस्तु।

### 7.10 फुटकल कवियों का ऐतिहासिक मूल्यांकन

हमारे सामने प्रश्न यह है कि शुक्ल जी ने जिन कवियों को फुटकल का
नाम दिया, उनका मूल्यांकन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कैसे करें? क्या ऐसे क

को इतिहास की मुख्य धारा से जोड़ना सम्भव नहीं है। इतिहास में उनकी पहचान—परम्परा में ठीक-ठीक मूल्यांकन—आवश्यक है। और तो और केशवदास जैसे कवि का यह हाल है। विद्यापति, रहीम जैसे कवि भी ऐसी पहचान की प्रतीक्षा में हैं। वीर गाथा काल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के नामकरणों में कुछ विवाद हुए हैं। किन्तु भक्तिकाल पर इस रूप में विवाद नहीं है। और भक्तिकाल में फुटकल कवियों की संख्या अधिक है। इन कवियों की ऐतिहासिक पहचान बने तो कैसे ?

### 7.11. इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण के सम्बन्ध में ई० एच० कार ने अपनी पुस्तक 'इतिहास . एक प्रवचना' के अन्तर्गत बहुत विस्तार से लिखा है। उनका कहना है—

> "भारत के सम्बन्ध में तो अवस्था यह है कि भारत के इतिहास पर, कोई सन्तोषजनक ग्रन्थ किसी और साहित्य में उपलब्ध होने की बात ही क्या स्वयं भारतीय साहित्य में भी ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। हिन्दुओं के अधिकांश श्रेष्ठ विचारकों की दृष्टि में इतिहास का कोई महत्त्व और उपयोगिता ही नहीं रही है। उनके अनुसार इतिहास का कोई अस्तित्व ही नहीं है, एक दृष्टि से यह विचार बहुत कुछ सही है इतिहास तो एक भ्रम और छलना है (इस हद तक शायद ही कोई पश्चिमी व्यक्ति सहमत होने को तैयार हो) और इसलिए वह एक निरर्थक वस्तु है।...."[74]

और भी लिखा है—

> "इतिहास का जो भाव और तात्पर्य पश्चिमी लोग मानते हैं, उस रूप में भारतीयों ने न तो अपना इतिहास वास्तव में लिखा ही है और न उन कागजातों तथा आधारभूत सामग्री को सुरक्षित ही रखा है जिसके सहारे पश्चिमी विद्वान् भारत का इतिहास प्रस्तुत कर सकें। चीन में उसका कोई इतिहास तैयार नहीं है जिससे पश्चिमी जिज्ञासु की तृप्ति हो सके, परन्तु भारत में उसका कोई इतिहास तैयार रूप में उपलब्ध न होने के साथ ही इतिहास तैयार करने की प्रवृत्ति पर यदि निषेध नहीं तो उसे अनुत्साहित करने की भावना मौजूद है।"[75]

और भी—

> "यूरोप के सम्पर्क में आने के पहले भारत का ऐसा इतिहास, जो पश्चिमी विद्वानों को सन्तोष दे सके, तैयार करने के लिए उपलब्ध सामग्री उसी कोटि की है जैसे कि होमर की कविताएं—इससे अधिक

जाएँगे तब तक इस प्रकार के विभाग का कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार थोड़े-थोड़े अन्तर पर होनेवाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर, अनेक काल बाँध चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल-प्रवर्तक कवि का यह प्रभाव उसके काल में होनेवाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए। रीतिबद्ध ग्रन्थों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाए, पर अभी मुझे नहीं मिला है।"[79]

यह सब लिखने पर भी 'रीतिबद्ध' शब्द का प्रयोग शुक्लजी ने कर दिया है। आचार्य शुक्ल ने केशवदास को रीतिकाल में नहीं रखा। इसके लिए उन्होंने कारण भी दिया है। केशवदास न भक्तिकाल में बैठते हैं न रीतिकाल में। उन्हें भक्तिकाल के फुटकल खाते में जगह दी गई है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"पर केशव के 50 या 60 वर्ष पीछे हिन्दी में लक्षण-ग्रंथों की जो परम्परा चली वह केशव के मार्ग पर नहीं चली। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में तो वह रस की प्रधानता मानने वाले काव्य-प्रकाश और साहित्य दर्पण के पक्ष पर रही और अलंकारों के निरूपण में उसने अधिकतर चन्द्रलोक और कुवलयानन्द का अनुसरण किया। इसीसे केशव के अलंकार-लक्षण हिन्दी में प्रचलित अलंकार-लक्षणों से नहीं मिलते। केशव के अलंकारों पर कविप्रिया और रस पर रसिकप्रिया लिखी।"[80]

स्पष्ट है कि रीतिकाल के रीति-ग्रंथकार कवियों में और केशवदास में शुक्लजी भेद करते हैं।

### 8.2 रीति-ग्रंथकार कवि

वस्तुतः रीति-ग्रंथकार कवि ही रीतिकाल के प्रधान कवि हैं। इन कवियों ने रीतिबद्ध रचनाएँ की हैं। ये आचार्य और कवि दोनों ही हैं। इन्होंने जिस रीति का अनुसरण किया, उसके अन्तर्गत प्रधान रूप से अलंकार तथा रस सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। संस्कृत के रीति सम्प्रदाय से ये रीति-ग्रन्थ अलग हैं। कवि केशवदास को रीतिकाल में न रखने का कारण यह है कि केशव ने अलंकार सम्प्रदाय के—भामह, उद्भट, दंडी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया। ऐसा रीतिकाल के रीति-ग्रन्थकारों ने नहीं किया। रीति-ग्रंथकार कवियों के सम्बन्ध में शुक्लजी लिखते हैं—

"हिन्दी में लक्षण की परिपाटी में पढ़नेवाले जो सैकड़ों कवि हुए वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे।"[81]

चिन्तामणि से आरम्भ कर रसिक गोविन्द तक 57 कवियों का परिचय शुक्लजी ने 'रीति-ग्रन्थकार कवि'—प्रकरण 2, मे दिया है। इन 57 कवियो मे सभी के रीति-ग्रन्थ मिलते ही हो, ऐसी बात नही है। इतनी बात अवश्य है कि इन कवियो ने ने रीतिबद्ध रचनाएँ की हैं। अर्थात् रीति-ग्रन्थों के लक्षणो का अनुसरण करते हुए काव्य सृजन किया है। बिहारी ने कोई लक्षण-ग्रन्थ नही लिखा किन्तु शुक्लजी उसे रीति-ग्रंथो के प्रधान कवियो मे रखते हैं। वे लिखते हैं—

> "बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रन्थ के रूप मे अपनी 'सतसई' नही लिखी है पर 'नख-सिख', 'नायिका भेद' षटऋतु के अन्तर्गत उनके सब शृ गारी दोहे आ जाते हैं और कई टीकाकारो ने दोहों को इस प्रकार साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। जैसाकि कहा जा चुका है, दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणो पर अवश्य था। इसीलिए हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियो मे न रख उक्त काल के प्रतिनिधि कवियो मे ही रखा है।"[32]

शुक्लजी ने रीतिकाल का फुटकल खाता तो नही खोला किन्तु ऊपर की पंक्तियो मे इस प्रकार की अवधारणा व्यक्त कर दी है। एक अर्थ मे, इस नाते, रीतिकाल के अन्य कवि जो अलग प्रकरण हैं—वे सब रीतिकाल के फुटकल कवि कहे जाने चाहिए। जो भी हो किसी-किसी रीति-ग्रन्थकार कवि का कोई लक्षण-ग्रन्थ न भी मिला हो और यदि उसके काव्य मे रीति ग्रन्थों का अनुसरण दिखलाई देता हो तो तब भी उसे शुक्लजी ने रीति-ग्रन्थकार कह दिया है।

### 8.3 रीतिबद्ध और रीतिमुक्त

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रीतिबद्ध शब्द के आधार पर ही बाद मे रीतिमुक्त तथा रीतिसिद्ध शब्दो का प्रयोग आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा अन्य विद्वानो ने किया। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र रीति को शृ गारकाल कहते हैं। हिन्दी साहित्य का अतीत भाग-2 मे, शृंगारकाल शीर्षक मे ही लिखा हुआ मिलेगा। इस शृंगारकाल का उपविभाजन आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस प्रकार किया है—[33]

नामकरण में भेद करने पर भी उसके दोनों प्रधान भेदों में रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त नामकरणों में 'रीति'—का प्रयोग होने के कारण रीतिकाल नामकरण उपयुक्त प्रतीत होता है। सम्भवतः इसीलिए शृंगारकाल नाम अधिक प्रचलित नहीं हुआ और आज भी रीतिकाल नाम ही प्रचलित है। डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में तथा साहित्येतिहासों में रीतिकाल नाम ही प्रचलित है। डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग), ग्रन्थ में डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन ने रीतिकाल के नामकरण के सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष देते हुए लिखा है—

> "मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' में रीतिकाल के लिए 'अलंकृत काल' नाम दिया है।......वीरगाथाकाल से लेकर गद्यकाल तक की रचनाएँ बहुत कुछ अलंकारों से सुसज्जित रही हैं। इस आधार पर प्रत्येक काल 'अलंकार काल' कहलाने का अधिकारी हो सकता है।......केशव को छोड़कर अन्य बहुत से कवि ऐसे हैं जो 'रस' और 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा मानकर बड़ी सुन्दर काव्य रचना कर गये हैं। रस की दृष्टि से मतिराम और ध्वनि की दृष्टि से बिहारी का नाम लिया जा सकता है। अतः 'अलङ्कृत काल' नाम हमारे विवेच्य काल (रीतिकाल) का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता"[84]

और पीछे हम देख चुके हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो केशव को भी रीतिकाल में नहीं रखा है। वस्तुतः केशव तो संस्कृत के अलंकार सम्प्रदाय के अधिक निकट पड़ते हैं। अलंकृत-काल नाम रखा जाना पड़ता तो केशव को पहले स्थान देना पड़ता और शुक्लजी ने केशव को रीतिकाल से बाहर रखा है।

'शृंगार काल'—के सम्बन्ध में डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन आगे लिखते हैं—

> "शृंगार की प्रमुखता असंदिग्ध है एवं वह स्वतन्त्र नहीं है, सर्वत्र रीतिबद्ध ही है। इस काल के समस्त कवियों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(1) रीतिग्रन्थकार कवि, (2) रीतिबद्ध, (3) रीतिमुक्त कवि। हम देखते हैं कि रीति का प्रभाव प्रत्येक वर्ग के कवियों पर है। रीति शब्द के दो ही अर्थ हैं। एक विशिष्ट पदरचना और दूसरा लक्षणग्रन्थ। रीतिग्रन्थकार कवियों और रीतिबद्ध कवियों की कविताएँ तो किसी-न-किसी प्रकार लक्षबद्ध थीं ही। रही रीतिमुक्त कवियों की बात, उनमें भी एक प्रकार की कवित्वपूर्ण पदरचना का वैशिष्ट्य पाया जाता है। अतः हिन्दी के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल के नाम से अभिहित करना ही अधिक उपयुक्त है, अलङ्कृत काल और शृंगारकाल नाम उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति का ठीक से प्रतिनिधित्व नहीं करते।"[85]

तात्पर्य यह कि आज भी आचार्य शुक्ल का नामकरण ही प्रचलित है।

आचार्य शुक्ल रीतिकालीन सामग्री के लिए मिश्रबन्धुओ पर निर्भर रहे हैं। वे इस काल के साहित्यिक अध्ययन में विशेष रुचि नहीं लेते। रीतिकालीन साहित्य के सम्बन्ध मे शुक्लजी ने जो कुछ लिखा है, वह केवल उनके इतिहास वाली पुस्तक मे ही है। वे लिखते हैं—

> "इस काल के (रीतिकाल के) कवियों के परिचयात्मक वृत्तों की छानबीन मे मैं अधिक नही प्रवृत्त हुआ हूँ क्योकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खडा करना था, न कि कवि-कीर्तन करना। अत कवियो के परिचयात्मक विवरण मैंने प्राय: मिश्रबन्धु-विनोद से ही लिए हैं। कही-कही कुछ कवियो के विवरणो मे परिवर्द्धन और परिष्कार भी किया है, जैसे ठाकुर, दीनदयालगिरि, रामसहाय और रसिक गोविंद के विवरणो मे। यदि कुछ कवियो के नाम छूट गए या किसी कवि की किसी मिली हुई पुस्तक का उल्लेख नही हुआ तो इससे मेरी कोई बडी उद्देश्य हानि नहीं हुई। इस काल के भीतर मैंने जितने कवि लिए हैं या जितने ग्रन्थो के नाम दिए हैं उतने ही जरूरत से ज्यादा मालूम हो रहे हैं।"[86]

और फिर शुक्लजी ने रीतिग्रन्थकार कवियो म 57 कवि तथा रीतिकाल के अन्य कवियो में 46 कवियों का परिचय दिया है।

## 8 4 सामान्य परिचय

रीतिकाल का समय शुक्लजी ने 1700-1900 संवत् माना है। तदनुसार यह काल 1643 ई० से 1843 ई० के बीच का है। 1643 ई० शाहजहाँ बादशाह का शासनकाल है। तब से 1843 ई० तक मुगलों का ही शासन चलता रहा है। समस्त मुगलकाल मे मुगल बादशाह केन्द मे रहे है। रीतिग्रन्थो की परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से मानी है। रीतिग्रन्थो के रचयिता आचार्य और कवि दोनो थे। शुक्लजी के सस्कृत के आचार्य तथा रीतिकालीन हिन्दी आचार्य कवियो मे भेद किया है। सस्कृत मे काव्यशास्त्र के जो आचार्य हुए वे हिन्दी के आचार्यों से भिन्न है। केशव ने सस्कृत के पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण किया। अपने समय के आचार्यों का नही। किन्तु चिंतामणि और बाद के कवियो ने सस्कृत के परवर्ती आचार्यों को आधार माना—साहित्य दर्पण, काव्य प्रकाश आदि को और उनमे भी चन्द्रलोक और कुवलयानन्द उनके विशेष आधार ग्रन्थ रहे हैं। इस नाते शुक्लजी रीतिकालीन आचार्यों को आचार्यों की कोटि मे नहीं रखते। वे उन्हें कविरूप मे स्वीकार करते हैं। आचार्यत्व की दृष्टि से कुछ उपलब्धियों का उल्लेख शुक्लजी ने किया है किन्तु वे इस बात को अधिक महत्त्व नहीं देते। रीतिकालीन आचार्य

कवियों के कविरूप की वे मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। लिखते हैं—

> "इन रीति-ग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगाररस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिका भेद की ओर अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगाररस के अन्तर्गत बहुत सुन्दर मुक्तक रचना हिन्दी में हुई है।"[67]

इस तरह से रीतिकालीन कवियों की विशेषताएँ बतलाते हुए भी उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि आचार्यत्व के बन्धन के कारण कवियों को संकुचित क्षेत्र में सिमटकर रह जाना पड़ा है। लिखा है—

> "वह (कवियों की दृष्टि) एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बंधी हुई नालियों में प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रससिक्त होकर सामने आने से रह गए। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्ति-विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया।"[68]

### 8.5 काव्य भाषा

रीतिकालीन कवियों की काव्य भाषा ब्रज थी। इस काव्य भाषा के विस्तार का—साहित्यिक भाषा के रूप में विस्तार का—उल्लेख शुक्लजी ने किया है। दासजी की पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए ब्रजभाषा के मिश्रित और विकसित रूप को स्वीकार किया है। अनेक कवियों ने ब्रजभाषा को अपनाया और वह काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत रही है। फारसी भाषा के प्रभाव का उल्लेख शुक्लजी ने विशेष रूप से दरबारी पद्धति के—मुगल दरबार कहना चाहिए—कारण किया है। इसी संदर्भ में आश्रयदाता की अभिरुचियों का उल्लेख भी वे कर देते हैं। शुक्लजी ने रीतिकाल के सम्बन्ध में जो भी लिखा है, वह अपनी जगह आज भी ठीक है। उसको स्वीकार करते हुए जो नहीं लिखा, उसको लेकर उन पर दोषारोपण करते हैं। रीतिकाल की जो सीमा—संवत् 1900 या 1843 ई० शुक्लजी ने मानी उससे भी विद्वान उनसे नाराज हैं। उन पर यह दोषारोपण है कि उनके कारण ब्रजभाषा को समय से पूर्व अपने क्षेत्र में सीमित मान लिया गया। ब्रजभाषा और रीतिकाल दोनों के प्रति ही कहना चाहिए, शुक्लजी का रवैया डॉ० महेन्द्रप्रतापसिंह ने ठीक नहीं माना। वे लिखते हैं—

> "अंग्रेजी शासकों के प्रथम चरण/साम्राज्य काल में ब्रजभाषा का प्रचार प्रसार बना रहा है, किन्तु हिन्दी साहित्य के आलोचकों और इतिहास लेखकों, खासकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रतिरोधात्मक (यह स्पष्ट ई० की मान्यता का है) दृष्टिकोण से इस युग के कृतित्व का तिरस्कार करने में कोई कसर नहीं रखी है। अंग्रेजी भाषा और साहित्य ज्ञान के अहंकार ने प्रतिरोध की अग्नि में घी का काम किया है। शुक्लजी ने ब्रजभाषा के जीवन-काल में ही अपने इतिहास में सन् 1844 ई० के आसपास रीतिकाल अथवा ब्रजभाषा काव्य के विघटन होने की घोषणा स्पष्ट घोषित करके रचनाकारों और काव्य प्रेमियों को निरस्त कर दिया था।"[89]

डॉ० महेन्द्रप्रतापसिंह केवल ब्रजभाषा की ही बात नहीं करते अपितु रीतिकाल की कविता को शृंगारी काव्य मानकर उसका अवमूल्यन करने का भी विरोध करते लिखते हैं—

> "शुक्लजी के अनैतिहासिक बयानों को ब्रह्म वाक्य मानने वालों की ऐसी 'फुल' वृद्धि हुई कि हिन्दी का इतिहास शुक्लजी की मान्यताओं के चक्र व्यूह में अभिमन्यु की तरह अपना सिर पीट रहा है। अंग्रेजी भाषा के संस्कारों से प्रभावित आलोचना दृष्टि ही ब्रजभाषा एवं रीतिकालीन साहित्य की सबसे बड़ी शत्रु साबित हुई। यदि महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में इसे पत्र-पत्रिकाओं से बहिष्कृत करने की पहल की गई थी, तो शुक्लजी ने अध्यापक आलोचकों को यह बताकर ब्रेनवाश कर दिया कि यह काव्य शृंगारिकता, विलासिता एवं ऐन्द्रियता आदि से संयुक्त होने के कारण अच्छे संस्कारों के अनुकूल नहीं है। फलत. उसके प्रति उदासीनता एवं बेरुखी की ऐसी संक्रामक बीमारी लगी कि उसका जीवन भी दूभर हो गया।"[90]

आचार्य शुक्ल पर इस तरह के दोषारोपण किए गए हैं। इनका उत्तर देना आवश्यक है। प्रथमत भाषा के संबंध में विचार करें। शुक्लजी को जितनी सामग्री मिली, उसके आधार पर उन्होंने इतिहास लिखा है। रीतिकाल में ब्रजभाषा प्रधान काव्य भाषा थी, इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। इस समय खड़ी बोली के विविध रूप प्रचलित रहे हैं किन्तु उससे सम्बन्धित सामग्री शुक्लजी के देखने में नहीं आई। उदाहरण के लिए दक्षिण में दक्खिनी में साहित्य लिखा जा रहा था। दक्खिनी साहित्य का उत्कर्षकाल रीतिकाल ही है। दक्खिनी की रचनाएँ शुक्लजी को ज्ञात होतीं और हिन्दी के भौगोलिक विस्तार से सम्बन्धित सामग्री उन्हें मिलती तो संभवत वे और प्रकार से लिखते। इसी तरह यदि रीतिकालीन

साहित्य पर विचार करें तो प्रथम बात तो यह ध्यान में रखनी चाहिए कि शुक्लजी इतिहास और समीक्षा एक साथ लिख रहे हैं। इतिहास के साथ न्याय करें तो समीक्षा गलत हो जाती है और समीक्षा के साथ न्याय करें तो इतिहास गलत हो जाता है। लगता है बहुत से विद्वान शुक्लजी की समीक्षा से तो सहमत हैं किन्तु इतिहास से सहमत नहीं हैं। ऐसी बात रीतिकाल के सम्बन्ध में अधिक हो गई है।

## 8.6 केशव और भूषण

हम भूषण कवि पर विचार करें। इसी तरह केशवदास पर विचार करें तो इतिहास तथा समीक्षा के अन्तर को स्पष्ट करना आसान हो जाएगा। केशवदास को शुक्लजी ने भक्तिकाल के फुटकल कवियों में रखा। शुक्लजी एक बार जो सिद्धान्त बना लेते हैं, फिर वे उसका पालन करने का प्रयत्न करते हैं। केशवदास संवत् 1700 से 1900 संवत् के बीच आते ही नहीं फिर उन्हें रीतिकाल में कैसे रखें ? काल की दृष्टि से गलत हो जाएगा। केशव का काल तो भक्ति काल में बैठता है किन्तु वे भक्त भी नहीं है। ऐसी स्थिति में शुक्लजी ने यही ठीक समझा कि काल की प्रधान प्रवृत्ति में—इतिहास में प्रवृत्ति का निदर्शन करना आवश्यक है—यदि कवि न बैठे और यदि वह कवि उसी काल का कवि है, तो उसे खलगाने के लिए फुटकल खाता खोल दें। हम देखते हैं कि शुक्लजी के बाद में जो इतिहास लिखे गये हैं, वे फुटकल खाता खोलना पसन्द नहीं करते। फुटकल खाता खोलने का यह अर्थ नहीं कि उसके अन्तर्गत जो कवि आता है, वह कवि महत्वपूर्ण नहीं। इतिहास की प्रधान प्रवृत्ति में नहीं बैठा इसलिए उसे फुटकल खाते में रखा गया। क्या शुक्लजी ने विद्यापति जैसे कवि को फुटकल खाते में नहीं रखा ? शृंगार के साथ वीर का मेल विद्यापति में नहीं था। वीरगाथात्मक प्रवृत्ति को शुक्लजी ने प्रधान माना। बस विद्यापति जैसे कवियों के लिए अलग खाता खोलना पड़ा। अब इसमें केशवदास भी आ गये। वे रीतिकाल के कालखण्ड में नहीं बैठे। यह तो एक बात हुई। दूसरी बात वह कि रीतिकाल के रीतिग्रंथकारों से केशव का भेद शुक्ल जी ने बतला दिया जिसको मैं पुनः दोहराना नहीं चाहता। इसी तरह भूषण पर विचार करें। भूषण को शुक्ल जी ने रीतिग्रंथकार कवियों के अन्तर्गत स्थान दिया। वे क्या करते ? भूषण ने शिवराज भूषण अलंकार निरूपण ग्रंथ लिखा था। वह लक्षणग्रंथ ही था। रीतिग्रंथकार कवियों में जगह देना आवश्यक था। इतिहास में प्रवृत्ति के अनुसार विवेचन करना था उसमें उसे ठीक जगह मिल गई। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या भूषण को हम रीतिग्रंथकार के रूप में जानते हैं ? नहीं। कवि भूषण की साहित्यिक प्रवृत्ति अलग है और उसका साहित्य के इतिहास में विशेष उल्लेख होना चाहिए था। शुक्लजी ने इतिहास की रक्षा की। इतिहास के अपने सिद्धान्त की रक्षा की और उस दृष्टि से वे आज भी ठीक हैं। यह तो इतिहास की

बात हुई। समीक्षा की दृष्टि से देखें तो उन्होने अपनी समझ से छोटे से छोटे कवि के प्रति न्याय किया है। क्या शुक्लजी ने केशव के सम्बन्ध मे या भूषण के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, उसको समीक्षक स्वीकार करते हैं या नही ? भूषण की शुक्ल जी ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। उसकी काव्य-प्रवृत्ति के अलगाव का उल्लेख भी उन्होंने किया है। समीक्षा के रूप मे शुक्लजी भूषण के प्रति उचित न्याय करते हैं। किन्तु इतिहास को क्या करें ? भूषण अन्ततः रीतिग्रंथकार कवि ही ठहरे। इसलिए लिखने वाले को अपने सिद्धान्त के प्रति दृढ रहना पडता है और इसमे वह कुछ निर्मम हो भी जाता है।

हम अनुभव करते हैं कि शुक्लजी की समीक्षाएँ—कवियो के प्रति मूल्यांकन के रूप मे लिखी गई टिप्पणियाँ—*मूल्यांकन की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी गई हैं।* उनके मूल्यांकन की धाक आज तक कायम है। उनका विरोध करने वाले उनकी इस शक्ति से आज भी आक्रान्त हैं। साहित्येतिहास मे समीक्षा को इतिहास से प्रबल-रूप देना साधारण बात नही है। इसके लिए दृढ व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। विद्वान यदि शुक्लजी के साहित्येतिहास को समीक्षात्मक इतिहास कहना चाहे तो कह लें। इसमें शुक्लजी का क्या बिगडनेवाला है ?

### 8 7. काव्य-प्रवृत्ति

शुक्लजी ने रीतिकाल की प्रधान प्रवृत्ति 'शृंगाररस' को स्वीकार किया। अन्य प्रवृत्तियो को उन्होंने गौण मानकर अलगा दिया। फिर इस प्रवृत्ति के साथ साथ रीतिग्रंथकार को अलग किया। कविगण लिखते तो रीतिग्रंथ रहे किन्तु उनकी काव्यप्रवृत्ति शृंगार की रही है। इसमे कही भी गलत नही है। शुक्लजी के इतिहास मे इसी सिद्धान्त का पालन किया है और इसमें जो कविगण बैठे उसको आधार बनाकर शुक्लजी ने 'रीतिग्रंथकार'—प्रकरण अलग कर दिया। क्या इस प्रकरण मे शृंगार के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्ति के कवि नही आए ? आए हैं किन्तु वे रीतिग्रंथकार के अन्तर्गत पैठ जाते हैं। इतिहास की दृष्टि से वे सब को एक पेटे में रख देते हैं और समीक्षा लिखते समय उनको अलगा देते हैं। बिहारी के सबंध मे भी ऐसा किया गया है। बिहारी ने तो रीतिग्रंथ लिखा नही था फिर ऐसा क्यों किया गया। उत्तर शुक्लजी ने दे दिया है। ऊपर मैंने इस सम्बन्ध मे लिख भी दिया है।

इतिहास की दृष्टि से प्रधान प्रवृत्ति 'रीति-ग्रंथ' लिखने की और काव्य के विषय मे दृष्टि प्रधान प्रवृत्ति 'शृंगार रस' की। शुक्लजी का यह निर्णय आज भी स्वीकृत है। 'शृंगार रस'—के रसराजत्व से शुक्लजी परिचित नही हैं, ऐसी बात नहीं। वे उसको उसकी ठीक जगह देते भी हैं। चिन्तामणि भाग 1, के 'लोभ और प्रीति' निबन्ध का अन्तिम अनुच्छेद देखें तो ज्ञात हो जाएगा कि शृंगाररस क्यों

रसराज है?—शृंगाररस के महत्त्व को जानते हुए भी शुक्लजी ने रीतिकालीन साहित्य के प्रति जो निर्णय दिया उससे शृंगाररस में रुचि रखने वालों को तकलीफ हुई है। शृंगाररस की प्रवृत्ति वीरगाथा काल में भी रही है और भक्तिकाल में भी रही है। क्या चंदबरदाई के काव्य में शृंगाररस नहीं है? है। तुलसी या सूरदास के काव्य में शृंगार रस नहीं है? है। इस शृंगार का विवेचन क्या शुक्लजी करते नहीं? करते हैं। किन्तु वीरगाथाकाल के कवि शृंगार से अधिक वीर वृत्ति को महत्त्व देते थे और इसी तरह भक्तिकाल के कवि शृंगार से अधिक भक्ति को महत्त्व देते रहे। इसलिए उनका नामकरण अलग है। किन्तु रीतिकाल के कवियों ने अपने को शृंगार रस तक सीमित कर लिया—इसे शुक्लजी व्यक्तिगत रूप से ठीक नहीं मानते। अपनी साहित्यिक अभिरुचि का प्रश्न है। साहित्यिक प्रयोजन के सम्बन्ध में उनकी अवधारणा की बात है। उनको यह ठीक नहीं लगा कि साहित्य का क्षेत्र इस तरह एकदम संकुचित हो जाए। जीवन के विविध रूपों का दर्शन रीतिकाल में उन्हें दिखलाई नहीं दिया। यह सब वे अलग से बतलाकर लिखते हैं। ऐसा लिखने से पूर्व उन्होंने शृंगार की बारीकियों का विवेचन हिन्दी में इस काल में जिस चरम रूप को पहुँचा, उसकी महत्ता स्वीकार की है। रीतिकालीन कवियों के सौन्दर्यबोध से शुक्लजी परिचित हैं। उन्होंने प्रायः प्रत्येक कवि की कविताओं से नमूनों के रूप में उदाहरण दिये हैं। इस तरह उदाहरण देने से उनके साहित्यिक संस्कार और उनकी अभिरुचि का बोध होता है। सच तो यह है कि साहित्येतिहास में उदाहरण देने के लिए जगह ही कहाँ रहती है। आप कितने उदाहरण देंगे? किन्तु शुक्लजी ने तो सब जगह उदाहरण दिये हैं। कविताओं में भी दिये और गद्य में भी दिये। इस तरह शृंगार के उदाहरण रीतिग्रंथकार कवियों के हों या रीतिमुक्त कवियों के हों—वे उदाहरण ऐसे हैं जो रीतिकालीन साहित्यिक पहचान को बढ़ाने वाले हैं। वे प्रवृत्ति को उसके मूल स्वरूप में स्वीकार करते हैं और उसका ठीक रूप बतलाकर इतिहास में उसका मूल्यांकन अलग से कर देते हैं। इस दृष्टि से देखने पर हम यह कैसे कहें कि शृंगाररस के प्रति उन्होंने अन्याय किया। बिहारी हों या घनानन्द—उनके शृंगारी काव्य का मूल्यांकन बारीकी से—उनके साहित्यिक गुणों के संदर्भ में कहना चाहिए—किया गया है। संक्षेप में शृंगार के सम्बन्ध में उनकी ऐतिहासिक टिप्पणी से 'रसिकवृंद' कितने नाराज हो गये। उनकी ऐतिहासिक टिप्पणी फिर दोहरा देता हूँ—

> "रीति-ग्रंथों की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता जीवन की भिन्न-भिन्न चिंत्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में प्रवाहित होने लगी

इतिहास में लिखा है।

रीतिबद्ध : रीतिग्रंथों का अनुसरण करते हुए उदाहरणों के रूप में जो काव्य सृजन हुआ है वह रीति की परम्परा के प्रति प्रतिबद्ध होकर लिखे जाने के कारण रीतिबद्ध है। यों कहना चाहिए कि रीति-ग्रंथकारों ने रीतिबद्ध रचनाएँ लिखी हैं।

आचार्य शुक्ल ने अपने 'रीति-ग्रंथकार कवि' प्रकरण में रीतिग्रंथकार और रीतिबद्ध दोनों प्रकार के कवियों को रखा है। शुक्लजी के अनुसार चिंतामणि रीतिग्रंथकार हैं किन्तु बिहारी रीतिग्रंथकार नहीं हैं। बिहारी रीति ग्रंथकार न होते हुए भी रीतिबद्ध हैं। शुक्लजी के रीतिग्रंथकार में रीतिबद्ध कवि भी आ गये हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि शुक्लजी जिसे रीति-ग्रंथकार कहते हैं बाद में अन्य इतिहासकारों ने रीतिग्रंथकारों को ही रीतिबद्ध कहना ठीक समझा है। और यदि रीति-ग्रंथकार और रीतिबद्ध को समान अर्थों मान लें तो फिर बिहारी को रीतिबद्ध कवियों से अलगाना आवश्यक हुआ। बिहारी को रीतिमुक्त तो कहा नहीं जा सकता था। अतः फिर बिहारी को रीतिसिद्ध कहा गया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का अतीत दूसरा भाग शृंगारकाल' में बिहारी को रीति-सिद्ध कवि कहते हैं। आप लिखते हैं—

> "शृंगारकाल में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों से उन कवियों को भी पृथक करना होगा जो रीतिसिद्ध हैं। जिन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी अर्थात् रचनाएँ जिन्होंने रीति की बंधी परिपाटी के अनुकूल ही की हैं पर लक्षण ग्रंथ प्रस्तुत न करके स्वतन्त्र रूप से अपनी रचनाएँ रची हैं। ये वस्तुतः मध्यवर्ती थे। रीति से बंधे भी थे और उससे कुछ स्वच्छन्द होकर भी चलते थे। यद्यपि जो लोग रीतिग्रंथ लिखते थे वे भी अपनी उक्तियों के प्रदर्शनार्थ ही रीति का सहारा लेते थे तथापि वे लक्षण से बाहर नहीं जा सकते थे। जो कुछ कहना होता था उसीके भीतर कहते थे। पर जो रीति से केवल सहारे का काम लेते थे वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी चाहते थे।"[94]

आगे और भी विस्तार में लिखते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र बिहारी को रीतिबद्ध न कहकर रीतिसिद्ध कहते हैं। रीतिबद्ध शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल ने किया था।

आचार्य शुक्ल ने 'रीतिमुक्त'—शब्द का प्रयोग नहीं किया किन्तु 'रीतिबद्ध' का तो किया है। और यह स्पष्ट है कि रीतिबद्ध के आधार पर ही रीतिमुक्त का प्रयोग हुआ है। जो रीतिबद्ध नहीं है वह विपरीत में रीतिमुक्त है, ऐसा मान लेना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने रीतिमुक्त कहा नहीं किन्तु रीतिमुक्त की विशेषताएँ

कार कहेंगे। हाँ इनमे जो भावुक और प्रतिभा सम्पन्न हैं, जो अन्योक्ति आदि का सहारा लेकर भगवत्प्रेम, ससार के प्रति विरक्ति, करुणा आदि उत्पन्न करने मे समर्थ हुए हैं वे अवश्य ही कवि क्या उच्चकोटि के कवि कहे जा सकते हैं।"[99]

(6) "छठा वर्ग कुछ भक्त कवियो का है जिन्होने भक्ति और प्रेम पूर्ण विनय के पद आदि पुराने भक्तों के ढग पर गाए हैं।"[100]

इनके अतिरिक्त प्रशस्ति परक काव्यो का शुक्ल जी ने अलग से उल्लेख किया है। ये ऐतिहासिक नायकों को आधार बनाकर लिखे गए हैं। इनके सम्बन्ध में लिखा—

> "आश्रयदाताओ की प्रशसा मे [प्रशस्ति काव्य ही हुए] वीररस की फुटकल कविताएँ भी बराबर बनती रहीं, जिनमें युद्धवीरता और दानवीरता दोनो की बडी अत्युक्ति पूर्ण प्रशसा भरी रहती थी। ऐसी कविताएँ थोडी बहुत तो रस-ग्रथो के आदि मे मिलती हैं कुछ अलकार ग्रथों के उदाहरण रूप मे (जैसे शिवराज भूषण) और कुछ अलग पुस्तकाकार जैसे 'शिवाबावनी', 'छत्रसाल दशक', 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली इत्यादि।"[101]

प्रशस्ति काव्य—को या इतिहास के नायको को आधार बनाकर लिखे गए काव्यों को आधार बनाकर लिखे गए काव्यों को एक और वर्ग मान लें तो रीतिमुक्त को छोड़कर 6 वर्ग तो शुक्ल जी ने बतला दिए। वे इस प्रकार हैं—(1) प्रबन्ध काव्य (2) वर्णनात्मक प्रबन्ध (3) नीति (4) पद्यकार (5) भक्तिपरक और (6) प्रशस्तिपरक।

कविताओं को छोड़कर रीतिकाल के गद्य पर भी—(योगवासिष्ट 1798 सवत् की रामप्रसाद निरजनी की रचना का उल्लेख करते हुए) बहुत सक्षेप मे क्यो न हो, लिख दिया है। इसी हिन्दी के प्रथम नाटक [महाराज विश्वनाथ सिंह का आनन्द रघुनन्दन नाटक] का उल्लेख भी कर दिया। गणेश कवि के 'प्रद्युम्न विजय' का उल्लेख किया। आचार्य शुक्ल ने तीन-चार पृष्ठो मे ही यह सब लिखा है। ऐतिहासिक रूप में—इतिहास के क्रम मे कहना चाहिए—रचनाओ, कवियों और उनकी प्रवृत्तियों का उल्लेख करते समय वे उनका तुरन्त मूल्यांकन

मे आचार्य शुक्ल ने रीति ग्रथ न लिखने पर भी बिहारी को
है और कारण भी दिया है। इसी तरह रीतिमुक्त
कर रीतिमुक्त की विशेषताएँ बतलाते हुए
दिया है। उनकी पक्ति फिर दोहरा देता हूँ—
ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुए

हैं। तदर्थ उन्होंने रीतिकाव्य की महत्ता उसके कलागत मूल्यों, आलोचना सर्जना के सयोग मे तथा उसके वैभव मे प्रतिपादित की है। ऐसा कहते हुए भी उन्होने एक बात स्वीकार की है कि रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। इस स्वीकृति के साथ वे लिखते हैं—

> "काव्य वस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य रस के नैतिक मूल्य पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है और इस दृष्टि से रीति काव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी, अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने मे उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें संदेह नहीं है और इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी।"[105]

रीतिकालीन साहित्य के अवमूल्यन के लिए क्या शुक्लजी अकेले उत्तरदायी हैं? ऐसा तो नही लगता। मैं ऊपर कह चुका हूँ और फिर दोहराता हूँ कि 'इतिहास' तथा 'समीक्षा' दोनों को अलगाकर शुक्लजी के कथनो पर विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि शुक्लजी अपनी जगह आज भी ठीक हैं। विद्वान शुक्लजी की समीक्षाओ को स्वीकार करते हैं किन्तु इतिहास को स्वीकार नही करते। अत मैं रीतिकालीन काव्य के इन दोनो रूपों को अलगाकर विचार करूँ तो सभवत शुक्लजी की अवधारणाओं को अधिक स्पष्ट कर सकूंगा।

रीतिकाल—नामकरण इतिहास से सम्बन्धित है। बद्ध हो, मुक्त हो या सिद्ध हो—नामकरण मे 'रीति' है। यह नामकरण उक्त युग की प्रधान प्रवृत्ति है। इस नामकरण मे आचार्यत्व की ध्वनि है। कवि विशेष के काव्य मे पाई जाने वाले काव्य की ध्वनि नही है। यह तो हम कहते हैं—शुक्लजी ने कहा है—और आज भी सब स्वीकार करते हैं कि रीतिकाल मे आचार्य व कवि दोनो का सयोग हुआ। डॉ० नगेन्द्र ने कहा आलोचना और सर्जना का सयोग हुआ। आलोचना से उनका तात्पर्य आचार्यत्व से है। इस युग के नामकरण मे तीन नाम उभर कर आए—अलकार काल, रीतिकाल और शृगार काल। अलकार नाम मिश्रबन्धुओ का था। वह अधिक नहीं चला क्योंकि अलकार रीति का एक भाग मान लिया गया। रीति मे इसके साथ-साथ अलकार का समाहार हो गया। अब रहे दोनो नाम रीतिकाल और शृगार काल। रीतिकाल—नामकरण मे कवियों का ध्यान कवि होने के रूप मे न जाकर आचार्यत्व की ओर अधिक जाता है। यों कहिए कि रीति ग्रथों की ओर जाता है। रीतिग्रथ—का अर्थ लक्षण-निरूपण (चाहे अलकार हो, रस हो या और कोई लक्षण हो) से सम्बन्धित ग्रंथ ही लिया गया है। शुक्लजी के रीतिकाल नामकरण में यही बात है। वस्तुत: रीतिकाल के प्रधान कवि उन्होंने रीति ग्रथकारों को ही माना 1700-1900 संवत् के बीच रीति-ग्रथ अधिक लिखे गये। औसतन अधिक लिखे गए। इस प्रकार के ग्रथों की प्रवृत्ति अधिक रही। इसलिए रीति काल नाम रखा गया। रीति-ग्रथकारो के लक्षण-ग्रथों के कारण रीतिकाल नाम

रखा गया है। कवियों की कविता के काव्य विषयों के आधार पर नामकरण हुआ ही नहीं। इस तरह से नामकरण करने का प्रयत्न आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने किया — शृंगारकाल नाम रखा। किन्तु एक बार शुक्लजी का नाम चल गया—वह चल गया। अब कौन रोके ? रीतिकाल की कविता रीति के प्रति प्रतिबद्ध रही है—बंधी हुई वाग्धारा है। यह ऐसी बात हो गई कि इतिहास में उसका नाम 'रीतिकाल' हो गया। इतिहास में आचार्य शुक्ल ने इस काल के साहित्य को एक निश्चित ढांचे मे स्वीकार कर लिया। उन्हें क्या पता कि इस नामकरण के कारण इस काल के समस्त साहित्य का अवमूल्यन हो रहा है। भूषण ने वीर रस की उत्कृष्ट रचना लिखी। शृंगार रस की नहीं लिखी किन्तु रीति-ग्रंथ लिखने के कारण वह उसी श्रेणी मे रख दिया गया। घनानन्द की उत्तम कविता भी उन्हें रीतिकाल की मुख्य धारा मे बैठने नही देती। उन्हें अन्य कवियों मे जगह मिली। मानो शुक्लजी ने कवियो के ऐतिहासिक स्थान का निर्धारण कर दिया। यह स्थान इतना निश्चित हो गया कि डॉ० नगेन्द्र एव आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के प्रयास भी बहुत सफल नही हुए। रीति — नाम इतना बलवान है कि काव्य के विषय की ओर ध्यान नहीं जाता और चला भी गया तो शृंगार तक जाता है। शृंगार की अति के कारण भी उसका अवमूल्यन होने लगता है।

आचार्य शुक्ल अपने सिद्धान्तों के प्रति बडे दृढ और निर्मम रहे हैं। उनकी दृढता और निर्ममता के कारण आज भी लोग सिर पीट रहे हैं। अकेले डॉ० महेन्द्र प्रताप सिंह ही नही बल्कि बहुत से लोग हैं जो उनके इतिहास से नाराज हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए बडे-से-बडे कवि को फुटकल खाते मे या अन्य कवियो मे डाल दिया। उन्होने अनुभव किया कि कविता कितनी ही श्रेष्ठ हो वह उस काल की मुख्य प्रवृत्ति मे बैठती नही हैं। एक बार काल प्रवृत्ति का निर्धारण करने के बाद—नामकरण कर लेने के बाद—सबको उस मुख्य धारा से अलग कर दिया। इस तरह से अलगाने में सिद्धान्त की रक्षा हो गई और उक्त धारा से हटकर लिखने वाले अलग रूप मे पहचाने गए। ऐसे कवियो को इतिहास मे क्या स्थान दें ? शुक्लजी ने जो स्थान दिया उससे उस स्थान को बदलना विद्वानो के लिए भारी हो रहा है।

## 8 10 कुछ प्रश्न और समाधान

प्रश्न है क्या आचार्य शुक्ल की 'साहित्यिक अभिरुचि' मे कमी थी। वह तो उत्कृष्ट है। उनकी साहित्यिक अभिरुचि ने उनकी समीक्षाओ को बलवान बनाया है। किसी कवि की समीक्षा लिखते समय उन्होंने अपनी प्रतिभा से ऐसी पहचान करवाई कि उसकी दाद उनका विरोध करने वाले भी देते हैं और इतिहास के प्रति किए गए अन्याय को चुपचाप स्वीकार करते आ रहे हैं। उन्हें इतिहास बदलना

भारी हो रहा है। घनानंद रीति ग्रंथ नहीं लिखता। कविता उत्तम कोटि की है। रीतिकाल के अन्य कवियों में बैठकर भी अपनी जगह स्वतंत्र कवि के रूप में वह श्रेष्ठ है—इस तथ्य को शुक्लजी मुक्त कंठ से लिखते हैं। शुक्लजी की सहृदयता में कोई कमी नहीं है।

आचार्य शुक्ल अपने पथ पर दृढ़ रहे हैं। वे गंगा गये गंगादास और जमना गए जमनादास नहीं हुए। उनकी दृढ़ता, उनके सिद्धान्तों के कारण है। इतिहास लिखने में,—किसी काल का नामकरण करने में—काल विशेष की सीमाओं के निर्धारण में, वे बड़े दृढ़ रहे हैं। उनकी दृढ़ता ने उनको बलवान बनाया। और लोग नाराज हो जाएंगे, इसकी चिंता उन्होंने नहीं की। आचार्य शुक्ल के सामने हिन्दी साहित्य का समस्त इतिहास था। वे केवल रीतिकाल पर नहीं लिख रहे थे। रीतिकालीन साहित्य पर लिखते समय वे भक्ति को कैसे भूल सकते थे। अन्य कवियों का उल्लेख करते हुए और उनकी प्रवृत्ति को अलगाते हुए पद्यकार कवियों की सराहना की है—"इनमें जो [पद्यकारों में] भावुक और प्रतिभा सम्पन्न हैं, जो अन्योक्ति आदि का सहारा लेकर भगवत्प्रेम, संसार के प्रति विरक्ति, करुणा आदि उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं वे अवश्य ही उच्चकोटि के कवि कहे जा सकते हैं।"[106] कवि को विषय-वस्तु एवं काव्य-प्रतिभा के आधार पर उच्च-कोटि का कह दिया किन्तु उनको इतिहास में एक अलग वर्ग मानकर [अन्य कवियों में पाँचवा वर्ग] रखा गया। शुक्लजी ने प्रशस्ति काव्य लिखने वालों का वर्ग तो अलग नहीं किया किन्तु छठे वर्ग के बाद में उनके सम्बन्ध में विस्तार से एक अनुच्छेद लिख दिया। उनके वाक्य का स्वर पहचानें तो मूल्यांकन का बोध हो जाएगा। उनके वाक्य लिख रहा हूँ—

> "आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीररस की फुटकल कविताएँ भी बराबर बनती रहीं जिनमें युद्धवीरता और दानवीरता दोनों की बड़ी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भरी रहती थी।"[107]

पंक्तियों में यह बात स्पष्ट रूप से कह दी गई है कि ऊपर जो वर्ग बनाए गए हैं, उन वर्गों के अलावा इस प्रकार की कविता भी चल रही थी। इस प्रकार की कविता पहले वीरगाथा काल में भी लिखी गई है। उक्त प्रवृत्ति का रूप अब भी प्रचलित था। उसको अलग से अलगाने की क्या जरूरत है? शुक्लजी 'फुटकल कविताएँ बराबर बनती रहीं'—जब कहते हैं तो वे इस प्रकार की कविता को पूर्व परम्परा से जोड़ते हैं, यह मानना चाहिए। इतिहास की धारा में वे प्रवृत्ति [illegible] का कोई आधार मिला तो अलगा देंगे और [illegible] अलग है, यह बतलाएँगे। अन्यथा उसको उसी [illegible] —गे। कोई खास बात नहीं। फिर

भूषण के सम्बन्ध में शुक्लजी के न्याय पर विचार करें तो बात और अ स्पष्ट होगी। भूषण ने 'शिवराज भूषण' अलंकार-निरूपण करनेवाला रीति लिखा, यह सच है। वे रीति-ग्रंथकार हुए। छत्रपति शिवाजी के यशोगान में क लिखा —प्रशस्तिपरक काव्य लिखा। प्रशस्ति जनता की जिन वृत्तियों ने अनु थी। शुक्लजी ने भूषण की सराहना और काव्य का मूल्यांकन भी तदनुकूल कि यह सब तो ठीक है। किन्तु इतिहास में वे रीतिग्रंथकार ही स्थान पाने अधिकारी हुए। भूषण की कविता कैसी थी? उसके क्या गुण हैं, यह समीक्षा पढ़ने पर ज्ञात होगा। इतिहास में वे रीति-ग्रंथों के रचयिता रह ग उनसे अपने ऐतिहासिक सिद्धान्तों के अनुसार जिस तथ्य को जहाँ लिख आवश्यक है, वे उसको वहीं पर लिखते हैं। कवि का उल्लेख होने पर उसके स में पूरा वृत्त वे एक साथ नहीं लिखते। इतिहास की प्रवृत्ति के अनुसार अल अलग स्थानों पर लिखते हैं। आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में काव्य लिखना—ना की प्रशस्ति करना, यह भी रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्ति रही है। इस प्रवृत्ति आचार्य शुक्ल रीतिकालीन अन्य काव्य के अन्तर्गत गौण मानकर लिखते हैं चलते ढंग से लिखते हैं। इस प्रवृत्ति से पूर्व अन्य काव्यों के भी छ वर्ग उन्हें अलग दिये हैं। इसे सातवाँ वर्ग भी नहीं कहते। यह कहेंगे कि प्रशस्ति में-*आश्रयदाता के गुण स्तवन में—भी कविता बराबर लिखी जाती रही।* इसे भूषण जैसे अपवाद को छोड़कर रीतिकाल की उत्तम प्रवृत्ति नहीं मानते। इ प्रवृत्ति के उल्लेख में रीतिकाल का अवमूल्यन ही है। फिर प्रशस्ति केवल शिवा बावनी और छत्रसालदशक में नहीं अपितु रीतिग्रंथों के आरम्भ में भी इस प्रवृत्ति की कविता मिलती है। रीति ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में आश्रयदाताओं का उल्लेख किया है और प्रशस्तिपरक छंद रचे हैं। इसका उल्लेख भी वे चलते ढंग से यह कर देते हैं। किन्तु इसे वे विशेष महत्त्व नहीं देते। मूल बात वे रीति-ग्रंथकार—की प्रवृत्ति को प्रधान बतलाकर इतिहास में उनका स्थान निश्चित कर देते हैं।

मैं प्रश्न पूछता हूँ कि रीतिकाल के कवियों का अध्ययन 'आचार्य रूप में' न तो ठीक से हुआ है और न हो रहा है। ऐसा क्यों? रीतिकाल के कवियों को आचार्य माना ही नहीं गया। स्वयं शुक्लजी ने उन्हें आचार्य नहीं माना किन्तु आचार्यत्व की प्रवृत्ति के कारण उनका नामकरण हो गया। वस्तुतः *रीतिकालीन कवियों का अध्ययन उनकी काव्य-प्रतिभा के रूप में ही हुआ है। हम रीतिकालीन कवियों द्वारा लिखे गये लक्षणों को कम पढ़ते हैं और उदाहरणों को अधिक पढ़ते हैं। इस रूप में देखने पर रीति-ग्रंथकार के काव्य हों (रीतिबद्ध कह लीजिए) या रीतिमुक्त काव्य हों—एक श्रेणी में आ जाते हैं। बिहारी की तरह हम घनानन्द* को भी सराहते हैं। इतिहास में वे अलग खानों में रख दिये गये किन्तु काव्य में तो

इतिहास को कौन बदले ? रीति नाम इतना जबरदस्त है कि इसी में इस युग के कवियों को ऐतिहासिक स्थान दे दिया गया है।

आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल में जितनी सामग्री का उपयोग किया, वह स्वयं उन्हें आवश्यकता से अधिक प्रतीत हुई। चयन उनका अपना है। शिवसिंह सरोज या मिश्रबन्धु विनोद (अधिक सामग्री मिश्रबन्धु विनोद से ही ली) की सारी सामग्री का उपयोग उन्होंने किया है, ऐसा तो नहीं कह सकते। शुक्लजी ने ऐसी रचनाओं को छोड़ दिया, जो साहित्य की कोटि में नहीं आती और नोटिस मात्र (शुक्लजी का ही शब्द है) है। उन्होंने रीतिग्रंथकार 57 कवियों का उल्लेख किया और अन्य कवियों में 46। निश्चित ही 57 संख्या 46 से ज्यादा है। 57 कवियों ने रीतिग्रंथ लिखे हैं। शुक्लजी ने निर्णय दे दिया और नामकरण हो गया।

आज तो स्थिति यह है कि रीतिकालीन रचनाओं का अम्बार लग गया है। शुक्लजी के इतिहास में जितनी रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं, उनसे कहीं अधिक परिमाण में, दुगुने से भी अधिक रचनाएँ प्रकाश में आ गई हैं। शोध-कार्य की प्रगति अधिक हो गई है और कार्य जारी है। सभवत आज की प्रकाशित सामग्री भी शुक्लजी के सामने होती तो शुक्लजी 'रीतिकाल'—नामकरण न कर कुछ और नाम देते। किन्तु जैसे कि जनता की कहो या विद्वानों की कह लो—नामकरण पर आपत्ति नहीं करते। कहते हैं, जो नाम चल गया है, उसको बदलने में क्या रखा है ? मूल्यांकन नये सिरे से कर सकते हैं। पुनर्मूल्यांकन हो रहे हैं। प्रामाणिकता पर विचार हो रहे हैं। अवधारणाएँ बदल रही हैं। डॉ० मनमोहन सहगल पटियाला से यहाँ आए (मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद) उनका कहना है कि पंजाब में गुरुमुखी लिपि में लिखी हुई सैकड़ो ब्रजभाषा की रचनाएँ मिलती हैं। उन सबका लिप्यंतरण करना और सम्पादित कर प्रकाशित करना आवश्यक है। यही स्थिति गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश आदि प्रदेशों की है। आचार्य शुक्ल के इतिहास में ऐसी रचनाओं का प्रवेश, उस काल की परिस्थितियों के कारण संभव नहीं हो सका। और ऐसा न होने पाने के कारण ज्ञात रचनाएँ आज भी इतिहास से कटकर ही रह गई हैं। ज्ञात रचनाओं को इतिहास की धारा में जोड़कर रखेंगे तो सभवत रीतिकाल का स्वरूप बदलेगा और मूल्यांकन में भी अन्तर आएगा। आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व जैसा कोई प्रबल व्यक्तित्व सामने आए तो यह काम हो सकता है। हम सामग्री देखते हैं, काम करना चाहते हैं किन्तु शुक्लजी हम पर इतने सवार हैं कि काम नहीं हो रहा है, इसीमें शुक्लजी के मन का बोध होता है। □□□

# 9. रीतिकाल और आधुनिककाल

## 9.1 रीतिकाल की काव्यभाषा

रीतिकाल की काव्यभाषा ब्रजभाषा है। यह सुगम काम है। यों तो भक्ति-काल में भी काव्यभाषा ब्रजभाषा रही है किन्तु रीतिकाल में ब्रजभाषा अपने उत्कर्ष पर थी। आधुनिक काल में भाषा-परिवर्तन हुआ है। ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ने लिया। यह सामान्य परिवर्तन नहीं है। ऐसा क्यों हुआ? अचानक ऐतिहासिक परिवर्तन हुआ क्या? यह अब भी विचारणीय है। ब्रजभाषा प्रेमियों को इससे बड़ी तकलीफ हुई है। वीरगाथाकाल 325 वर्षों का रहा। उसी तरह भक्तिकाल भी 325 वर्षों का है। इस तुलना में रीतिकाल 200 वर्षों का है। संवत 1700 से संवत् 1900 अर्थात् 1613 ई० 1843 ई० तक का काल रीतिकाल है। डॉ० महेन्द्र प्रतापसिंह का कहना है कि 1843 पर रीतिकाल को समाप्त कर देने की घोषणा करना गलत है।[108] ऐतिहासिक दृष्टि से क्या ब्रजभाषा पर अन्याय हो गया? आचार्य शुक्ल अपने इतिहास में भाषा परिवर्तनपर विस्तार से विचार करते हैं। पद्य से गद्य की ओर आने को ही वे ऐतिहासिक परिवर्तन पढ़ते हैं। यहाँ तक कि आधुनिककाल को वे सीधे गद्यकाल कह देते हैं। गद्य की भाषा ब्रजभाषा नहीं रही। पद्य की भाषा तो आधुनिक काल की ब्रजभाषा रही है। भारतेन्दुयुग तक ब्रजभाषा रही है। किन्तु भारतेन्दु बाबू को आचार्य शुक्ल रीतिकाल में कैसे दिखलाते? संक्षेप में हमें रीतिकाल की काव्य भाषा पर अलग से विचार करना चाहिए। हमें ऐतिहासिक कारणों की खोज करना चाहिए। तभी कुछ समाधान मिल सकता है।

## 9.2 ब्रजभाषा काव्यभाषा

ब्रजभाषा को हिन्दी में काव्य भाषा का स्थान मिला है। भक्तिकाल तथा रीतिकाल दोनों में ही यह भाषा भौगोलिक विस्तार पा चुकी थी। रीतिकाल में इस भौगोलिक विस्तार पर भिखारीदास ने जो कुछ लिखा उसे आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में उद्धृत किया है।[109] यह बात सच है कि ब्रजभाषा मुगल काल

में अपने उत्कर्ष पर रही है। मुगल बादशाहों का प्रभाव भारत मे जहाँ-जहाँ फैला वहाँ-वहाँ ब्रजभाषा फैली है। अमीर खुसरो की भाषा [मुगलो से पूर्व की. सुलतानों के समय की] दिल्ली की भाषा है। क्या उक्त भाषा आधुनिककाल तक प्रतीक्षा करती रही है? इस सम्बन्ध मे मैंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी वीरकाव्य [1600-1800]' के अन्तिम अध्याय 'वीरकाव्यों की राष्ट्रीयता' में विस्तार से विचार किया है।[110] यहाँ पर संक्षेप में इतना ही कहना चाहूँगा कि मुगल काल के उत्कर्ष के साथ ब्रजभाषा का उत्कर्ष जुड़ा हुआ है। मुगल काल में ब्रजभाषा के साहित्यिक उत्कर्ष पर रहने के दो प्रधान कारण हैं—(1) कृष्ण साहित्य और (2) आगरा—मुगलों की राजधानी होना। मुगल बादशाह, अपने उत्कर्ष काल में आगरा मे रहे हैं। सुल्तानो के काल मे राजधानी दिल्ली थी। मुगल काल में आगरा राजधानी हो गई। बाद मे लालकिला बन जाने पर मुगल बादशाह [औरगजेब के बाद] दिल्ली चले गये। उसके बाद दिल्ली फिर राजधानी बन गई। राजधानियों के बदलने का प्रभाव भाषा तथा साहित्य से सीधा सम्बन्ध रखता है।

दिल्ली ——————→ आगरा ——————→ दिल्ली

| | | |
|---|---|---|
| [सुलतानों का काल] | [मुगलों का उत्कर्ष काल] | औरगजेब के बाद |
| हिन्दवी—हिन्दुई | [ब्रजभाषा] | [मुगलों का पतनकाल] |
| [खड़ी बोली] | | [हिन्दवी—हिन्दुई—हिन्दुस्तानी-हिन्दी] |
| | | [खड़ी बोली] |

ऊपर का रेखांकन बहुत स्थूल है। दिल्ली—आगरा—दिल्ली—राजधानियो के परिवर्तन का प्रभाव भाषा तथा साहित्य पर पड़नेवाले प्रभाव को दिखलाने के लिए यह रेखांकन है। सुलतानो के काल की भाषा का नमूना हमे अमीर खुसरो में मिलता है। केन्द्र मे सुलतानों का पतन हो गया। मुगलों ने अधिकार कर लिया। इससे केन्द्र के सुलतान भारत मे ही सीमा प्रदेशों की ओर चले गये। सुलतानो के केन्द्र जहाँ-जहाँ भारत मे बन गये थे, वे पूरे टूटे नहीं थे। औरगजेब के काल तक उनके केन्द्र बराबर मिलते हैं। सबसे बड़ा केन्द्र तो दक्षिण भारत था। अल्लाउद्दीन खिलजी के समय में ही केन्द्र बन गया था। मुहम्मद तुगलक के समय तो देवगिरि का दौलताबाद हुआ और बाद मे बहमनियो ने राज्य किया। पश्चात् बहमनी-बादशाहों के और छोटे-छोटे राज्य हो गये जिनके केन्द्र गोलकोण्डा, बीजापुर, बीदर, अहमदनगर आदि थे। क्या ये सब राज्य मुगलों के अधीन थे। मुगल बादशाह स्वयं इन सबसे लडते रहे हैं। अकबर ने पहले अहमदनगर पर अधिकार किया। शाहजहाँ ने दौलताबाद पर अधिकार किया और इसका अंत औरंगजेब ने गोलकोण्डा और बीजापुर पर अधिकार करके किया। मुगलो के उत्कर्ष काल

मे सुलतानो का दक्षिण का केन्द्र मुगलो से अलग रहा है। दक्षिण के इस केन्द्र मे *सुलतानों की दिल्ली की भाषा—अमीर खुसरो की भाषा—* चलती रही है। इस भाषा को दक्खिनी कहा गया है। भक्तिकाल और रीतिकाल के समानान्तर रूप मे *दक्षिण मे दक्खिनी साहित्य लिखा जाता रहा है।* मुगलो का दक्षिण मे प्रभाव बढ़ जाने से—शाहजहाँ और औरगजेब के काल मे—ब्रजभाषा भी दक्षिण मे पहुँच गई है। *भारत के पूर्व मे ब्रजभाषा के उत्कर्ष काल मे अवधी उत्कर्ष पाती रही है।* सूफियो की भाषा अवधी रही है। सुलतानो का एक केन्द्र पूर्व में भी पहुँचा है। *केन्द्र मे ब्रजभाषा का भौगोलिक विस्तार हुआ है। केन्द्र की भाषा* सुलतानो के पतन के कारण परिधियो मे विस्तार पा गई।

*ब्रजभाषा के उत्कर्षकाल मे ही अवधी और दक्खिनी मे साहित्य लिखा जाता* रहा। आचार्य शुक्ल का ध्यान अवधी की ओर—रामचरित मानस की ओर—*गया है। इस ब्याज से उन्होने सूफी साहित्य को भी चमका दिया किन्तु उनका* ध्यान दक्खिनी की ओर नही जा सका। वह काम बाद मे राहुल ने किया। *किन्तु शुक्लजी की नजर से चूक जाने पर इतिहास मे फिर जगह दिलाना कठिन काम ही है।*

दिल्ली की भाषा—अमीर खुसरो की हिन्दुई भाषा—क्या ब्रजभाषा के काल मे—मुगलो के काल मे वहिष्कृत—एकदम गायब हो गई थी। ऐसा नहीं है। इतना ही है कि उसे काव्य भाषा का पद नहीं मिल सका है। यहाँ पर मैं यह बात स्पष्ट रूप से कहना चाहूँगा कि ब्रज के मूल केन्द्र आगरा, मथुरा, अलीगढ़—आदि स्थानों से हटकर ब्रजभाषा अन्य स्थानो पर जहाँ भी पहुँची है, वह काव्य भाषा के रूप में ही पहुँची है। ब्रजभाषा का भौगोलिक विस्तार काव्य भाषा के रूप मे हुआ है।

### 9.3 काव्य भाषा और बोलचाल की भाषा

ब्रजभाषा काव्यभाषा रही है—इसको भी भक्तिकाल तथा रीतिकाल के सन्दर्भ मे अलग-अलग रूप में पहचानने का प्रयास किया जा सकता है। भक्तिकाल की ब्रजभाषा व रीतिकाल की ब्रजभाषा में भेद करना चाहिए। ब्रजभाषा का चरम रूप सूरदास की भाषा मे है और रूप से कृष्ण साहित्य का आधार ब्रजभाषा ही रही है। भक्तिकाल की ब्रजभाषा विकसित और प्रौढ़ होने पर भी उसका भौगोलिक प्रसार काव्य भाषा के रूप में रीतिकाल मे ही हुआ है। रीतिकाल में ब्रजभाषा [illegible] से अधिक कवियों की भाषा हो गई। केशवदास को भी भाषा मे [illegible] रहा। संस्कृत की परम्परा का [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] है।

काव्यभाषा से हटकर भाषा का बोलचाल का रूप अलग है। यह रूप हिन्दुई या हिन्दवी का है। शाहजहाँ के काल में इसे हिन्दुस्तानी भी कहा गया है। शाहजहाँ के भाषा ज्ञान के सम्बन्ध में मुल्ला अब्दुल हमीद ने लिखा है—

> "बादशाह [शाहजहाँ] अधिकतर फारसी बोलते हैं और बहुत अच्छी तरह से बोलते हैं। जो लोग फारसी नहीं जानते, उनसे हिन्दुस्तानी बोली में बातें करते हैं। कुछ तुर्की भी समझते हैं, मगर बोलते कम हैं।"[111]

शाहजहाँ नामा में 'हिन्दुस्तानी जबान' का उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है।[112] यह हिन्दुस्तानी जबान अमीर खुसरो की भाषा है। हिन्दुई और हिन्दवी का विकसित रूप है। भौगोलिक रूप में इसका विस्तार बोलचाल के रूप में मुगल काल में सर्वत्र हो गया था। इतना ही है कि इस भाषा को काव्यभाषा का पद नहीं मिल सका। संगीतज्ञों, कलाकारों तथा अन्य व्यवसाय करने वाले लोगों ने हिन्दुस्तानी अपना ली थी। शाहजहाँनामा में इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। यात्रा पर रहनेवाले कवियों की भाषा में हिन्दुस्तानी के रूप रीतिकाल में मिलते हैं। भक्तिकाल में सन्तों की भाषा में हिन्दुस्तानी के संकेत पाए ही जाते हैं। दक्षिण में नामदेव और अन्य सन्तों की भाषा में हिन्दुस्तानी के रूप मिलते हैं। रीतिकाल में भूषण की भाषा में भी हिन्दुस्तानी का प्रभाव दिखलाई देता है। संक्षेप में हिन्दी भाषा में दिल्ली-आगरे की बोलियों के विस्तार को यों समझा जा सकता है।

(1) दिल्ली की भाषा—हिन्दुई-हिन्दवी-हिन्दुस्तानी—बोलचाल की भाषा।
(2) आगरे की भाषा—ब्रजभाषा—काव्य भाषा।

## 9.4 रीतिग्रन्थ और ब्रजभाषा

ब्रजभाषा—काव्यभाषा के रूप में रीतिग्रन्थों की भाषा बन गई। कवियों की यह आदर्श भाषा हुई। इस रूप में इस भाषा का विस्तार, भारत के सुदूर प्रदेशों में—विशेष रूप से जहाँ-जहाँ मुगल सत्ता पहुँची है, वहाँ-वहाँ—हुआ है। डॉ॰ मनिक मोहम्मद द्वारा सम्पादित—'हिन्दी साहित्य को हिन्दीतर प्रदेशों की देन' में—कई उदाहरण मिल जाएँगे। ब्रजभाषा का भौगोलिक विस्तार भक्तिकाल की अपेक्षा रीतिकाल में अधिक हुआ। विशेष बात यह कि यह भाषा रीतिग्रन्थों की भाषा अधिक हो गई। इसी महीने में (3 अप्रैल 1986 को) पटियाला से डॉ॰ मनमोहन सहगल ने मेरे पास 'पंजाब में रचित हिन्दी रीति-काव्य' आलेख की टंकित प्रति भेजी है। उक्त आलेख में 20 रचनाओं की (पाण्डुलिपियों की) एक तालिका दी गई है। तालिका के स्पष्टीकरण हेतु लिखा है—

> "पंजाब में रीति-ग्रन्थों की एक समृद्ध परम्परा रही है। 19वीं से 20वीं शती तक पंजाब में ऐसी बहुसंख्यक रचनाएँ हैं, जिनका वर्ण-

> विषय अलंकार, छन्द, रस, नायक-नायिका भेद आदि से सम्बन्धित है। उपर्युक्त सूची में सभी दुर्लभ लक्षण-ग्रन्थ है, जिन्हें पंजाब की गुरु-परम्परा के प्रभाव में रसिक कवियों के गुरुमुखी माध्यम से प्रस्तुत किया था। इन सबकी भाषा साहित्यिक ब्रज है।"[113]

लिपि भेद के कारण रचनाएँ प्रकाश में नहीं आ सकी हैं। साहित्यिक ब्रज—काव्य भाषा कहना चाहिए—रीतिकाल में इसी तरह और प्रदेशों में पहुँची है और बहुत-सी रचनाएँ अब तक ज्ञात नहीं हो सकी हैं। शुक्लजी ने भी सारी रचनाओं को कहाँ स्वीकार किया? स्वयं उनके सामने बहुत-सी रचनाएँ थीं। मिश्रबन्धु तथा शिवसिंह सेंगर ने जिन रचनाओं का उल्लेख किया है, वे सब भी शुक्लजी के इतिहास में नहीं हैं। संक्षेप में ब्रजभाषा रीति-ग्रन्थों की भाषा के रूप में फैल गई थी। कवियों को यह भाषा सीखनी पड़ती थी। सीखने की भाषा होने के कारण ही तो रीति-ग्रंथों की भाषा हो गई। बोलचाल की भाषा से यह अलग रही। ब्रज का बोल-चाल का रूप ब्रजभाषा से सम्बन्धित जिलों में (मथुरा-आगरा आदि) तो रहा किन्तु अन्यत्र काव्यभाषा का रूप ही रहा। सुदूर के प्रदेशों की ब्रजभाषा पर स्थानीय प्रभाव मिलते हैं। यही नहीं हिन्दुस्तानी के रूप भी अधिक मिलते हैं।

रीति-ग्रन्थों की भाषा हो जाने से ब्रजभाषा को शास्त्रीय रूप मिलता है। इसके अपने लाभ ब्रजभाषा को प्राप्त हुए हैं। रीतिकाल की समाप्ति की घोषणा की तिथि से आगे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा इसीलिए प्रतिष्ठित रही है। रीतिकाल के विस्तार का कारण ब्रजभाषा भी है। ब्रजभाषा की काव्य-प्रवृत्तियाँ आधुनिक काल में भी प्रायः रीतिकालीन रही हैं। जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'उद्धव शतक' काव्य आधुनिककाल में ब्रजभाषा में ही लिखा है।

## 9.5 हिन्दवी-हिन्दुई-हिन्दुस्तानी हिन्दी

मुगल काल में हिन्दवी या हिन्दुई हिन्दुस्तानी कहलाती थी और अंग्रेजों के काल में वह हिन्दी हो गई है। खड़ी बोली—कहना, वस्तुतः काव्यभाषा ब्रजभाषा के साथ तुलनात्मक रूप में हिन्दुस्तानी को प्रस्तुत करना है। खड़ी बोली का प्रयोग न कर हिन्दुस्तानी तथा हिन्दी कहना अधिक ठीक है। मुगल काल की हिन्दुस्तानी (भक्तिकाल और रीतिकाल की हिन्दुस्तानी कहिए) आधुनिक काल की हिन्दी है। सच्चाई यह है कि ब्रजभाषा और हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दी का भेद रीतिकाल तथा आधुनिककाल का भेद है। शुक्लजी इस भेद से अच्छी तरह परिचित थे। भाषा परिवर्तन के इस ऐतिहासिक परिवर्तन को शुक्लजी ने इतिहासकार की दृष्टि से देखा है और इसीलिए उन्होंने आधुनिककाल के आरम्भ में भाषा का विस्तृत ब्यौरा भी लिखा भी है। आधुनिककाल के सम्पूर्ण आरम्भ में गद्य का

विकास लगभग 46 पृष्ठों में (पृ० 403 से 448) लिखा है। सवत् 1925-1950 प्रथम उत्थान का काल है। प्रश्न है 1901 सवत् से 1925 सवत् का क्या ?—इसी को शुक्लजी गद्य साहित्य का आविर्भाव कहते हैं। साहित्य की भाषा मे इस प्रकार का परिवर्तन नई प्रवृत्ति का द्योतक है और इसीलिए रीतिकाल से आधुनिककाल का भेद उन्होंने कर दिया। आधुनिक काल—गद्यकाल हुआ और गद्य की भाषा हिन्दी थी (हिन्दुस्तानी का नया नाम जो आज भी प्रचलित है)

### 9.6. गद्य और पद्य

आधुनिक काल का नाम शुक्लजी ने गद्यकाल रखा है। इस नामकरण मे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि गद्य की प्रवृत्ति रीतिकाल के साहित्य से एकदम नवीन है। नव जागरण गद्य के माध्यम से आया। नये विचार प्रथमत: गद्य मे दिखलाई दिए। व्यावहारिक आवश्यकताओ की पूर्ति गद्य द्वारा होती दिखलाई दी। गद्य का बदलाव सवत् 1900 से पहले ही शुक्लजी ने दिखलाया है। हिन्दी गद्य के प्रथम [illegible]

> "सवत् 1860 के लगभग हिन्दी गद्य का प्रवर्तन तो हुआ पर उसके साहित्य की अखण्ड परम्परा उस समय से नही चली।"····"सवत् 1860 और 1915 के बीच का काल गद्य-रचना की दृष्टि से प्राय. शून्य ही मिलता है। सवत् 1914 के बलवे (1857 ई० की क्रान्ति) के पीछे हिन्दी गद्य-गद्य साहित्य की परम्परा अच्छी तरह चली।"[114]

आचार्य शुक्लजी जिस समय इस प्रकार की पक्तियाँ लिख रहे थे—उनके अपने समय तक ब्रजभाषा काव्यभाषा के रूप में विद्यमान रही है। मिर्जापुर मे आचार्य शुक्ल ने—अपने बचपन में—ब्रजभाषा को काव्य भाषा के रूप में देखा भी है। कहते हैं मिर्जापुर में बदरी नारायण चौधरी प्रेमघनजी के पास एक सज्जन पहुँचे। वे अपनी कन्या के विवाह के निमन्त्रण पत्र पर सस्कृत की जगह हिन्दी मे गद्य चाहते थे। चौधरी साहब ने पद्य की माँग की। शुक्लजी के दोहे का चयन हुआ। दोहा इस प्रकार है—[115]

> "विश्व-विधान-विनोद-रत, माया-जाया-सग।
> मंगलमय मगल करहु, दरसावहु-बहु रग॥

बीच में ही यह प्रसंग मैंने इसलिए लिखा है कि पद्य का रूप ब्रजभाषा मे शुक्लजी के समय तक चला है और शुक्लजी स्वयं ब्रजभाषा के साहित्यिक सस्कारो मे पले [illegible] को ठीक-ठीक आधुनिक काल मे बदलने का कार्य शुक्लजी ने ही [illegible] इतिहास में इस बात को कैसे लिख सकते थे ? ब्रजभाषा पद्य

के साथ हिन्दी का रीतिकाल दूर तक खीचा चला आया है। आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल को गद्य के माध्यम से बदला है और इसके लिए सवत् 1900 से पीछे तक जाते हैं। 1860 सवत् मे गद्य के उत्तम प्रवर्त्तन के सकेत देते हैं। तब भी मानते हैं कि साहित्य का प्रवर्त्तन बाद में हुआ। अन्तराल के वर्षों का इतिहास भाषा के इतिहास के रूप मे लिखा। आचार्य शुक्ल के रीतिकालीन विवेचन से कुछ विद्वान नाराज हैं। डॉ० महेन्द्र प्रताप सिंह ने तो इस नाराजगी को व्यक्त करने के लिए पुस्तक ही लिख दी है। इस सन्दर्भ मे यह मानना होता कि रीतिकालीन कवियो के इतिहास-बोध पर आधुनिक सन्दर्भ मे विचार नही हो सका है।

### 9 7. रीतिकाल इतिहास बोध

आचार्य शुक्ल के इतिहास में रीतिकालीन कवियो के इतिहास-बोध पर विचार नही हो सका है। इसका एक कारण है और वह यह कि शुक्लजी ने प्रधान रूप से रीति-ग्रथों से सम्बन्धित कवियो पर ही विचार किया है। रीतिकाल के अन्य कवियों मे घनानन्द और रसखान, आलम [रसखान का नाम कृष्ण भक्ति शाखा मे है फिर भी उसका उल्लेख घनानन्द के साथ भी होता रहा है] जैसे कवियों के साहित्य की सराहना उन्होने मुक्तकठ से की है किन्तु ऐसे कवि जिन्होंने ऐतिहासिक पद्धति के काव्य लिखे, उनका विवेचन शुक्लजी ने नहीं किया। सच तो यह है कि इस काल के कई कवि ऐसे हैं जिन्होंने ऐतिहासिक नायकों का इतिहास ठीक-ठीक और सामयिक राजनीतिक सन्दर्भों को ध्यान मे रखकर लिखा है। स्वयं केशवदास की रचनाएँ—वीरचरित इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। बात यह है कि शुक्लजी के साहित्य विवेक ने इन रचनाओ की उपेक्षा कर दी। भूषण जैसा कवि —रीतिग्रन्थकारो की तालिका मे बैठ गया। अंग्रेजो के समय मे दरबारी राजनीति से सम्बन्धित काफी साहित्य ब्रजभाषा मे है किन्तु साहित्य विवेक से बाहर रहने के कारण यह सारा साहित्य प्रकाश मे नहीं आ सका। अंग्रेजों के राज्य विस्तार के समय, मुगलों के पतन के काल मे एव मराठों के उत्थान-पतन मे और राजपूत तथा अन्य राजदरबारों मे सामयिक रूप मे काफी साहित्य गद्य-पद्य रूप में ब्रजभाषा मे रचा गया है। पत्र-व्यवहार की भाषा भी ब्रज तथा राजस्थानी रही है। किन्तु वे सब अब प्रकाश में आए हैं और शोध-ग्रन्थों मे शोध-पत्रिकाओं में मिल जाएंगे। इन सब से आचार्य शुक्ल परिचित नहीं हो सके। ब्रजभाषा को उन्होंने काव्यभाषा के रूप मे ही अनुभव किया। व्यावहारिक स्तर पर और इतिहास-बोध के रूप मे ब्रजभाषा को देखने का अवसर आचार्य शुक्ल को मिला ही नहीं। इस रूप मे ब्रजभाषा के साहित्य का ठीक-ठीक अध्ययन होना और उसके ऐतिहासिक स्वरूप पर विचार करना जरूरी है। इस दृष्टिकोण से डॉ० महेन्द्र प्रतापसिंह

की पुस्तक 'रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या'—महत्त्वपूर्ण है। रीतिकालीन साहित्य के अवमूल्यन का एक कारण यह भी है कि रीतिकालीन साहित्य को रीति ग्रन्थकारों के रूप में ही देखा गया है। इस दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है।

### 9.8. रीतिकाल का विस्तार संवत् 1900 के बाद भी

रीतिकाल संवत् 1900 तक ही चला या बाद में भी चलता रहा? आचार्य शुक्ल ने संवत् 1900 पर ही रीतिकाल के समाप्ति की घोषणा कर दी। किन्तु स्वयं आचार्य शुक्ल के काल में और उनके बचपन में क्या रीतिकाल चल नहीं रहा था। रीतिकाल का वातावरण आचार्य शुक्ल के चारों ओर था। यह बात विशेष रूप से काव्य शास्त्र के सन्दर्भ में कह रहा हूँ। रीतिकाल का साहित्य-विवेक मिश्रबन्धुओं में था। वे तो रीतिकाल को अलंकार काल कहते थे। मिश्र बन्धु ही क्यों? लाला भगवानदीन और अन्य आचार्यगण रस-अलंकार की चर्चा रीतिकालीन सन्दर्भ में ही करते थे। डॉ० नामवरसिंह ने हैदराबाद में आचार्य रामचंद्र शुक्ल संगोष्ठी के उद्घाटन भाषण में 31-10-85 को कहा कि 'इतना लम्बा रीतिकाल हिन्दी को छोड़कर कहीं नहीं हुआ। इसे दूर करने का श्रेय शुक्लजी को है। आचार्य शुक्ल ने रस को प्रासंगिक बनाया और पारलौकिक आनन्द से मुक्त किया। रस को अलौकिक आनन्द से संघर्ष की ओर मोड़ने का श्रेय भी शुक्लजी को ही देना चाहिए।' डॉ० नामवरसिंह ने तो अभी-अभी कहा है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयीजी ने भी बीसवीं शताब्दी पुस्तक में लिखा है—

> "उन्होंने [आचार्य शुक्ल ने] रस और अलंकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार बहिष्कृत हो जाने से बचे। दूसरे शब्दों में शुक्लजी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया।"[116]

कहना यह है कि रीतिकालीन साहित्य-विवेक को बदलने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। इस बदलाव से पहले तक रीतिकाल का साहित्य-विवेक चला आ रहा था। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर डॉ० नामवरसिंह ने टिप्पणी की कि हिन्दी साहित्य में रीतिकाल बहुत दूर तक चला आया है। इस दृष्टि से रीतिकाल के आचार्यों पर शुक्लजी की ऐतिहासिक टिप्पणियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

### 9.9 आधुनिक गद्य-पद्य

आधुनिक काल के गद्य तथा पद्य पर तुलनात्मक रूप में विचार करें और वह भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के सन्दर्भ में तो ज्ञात होगा कि पद्य के क्षेत्र

## 10. आधुनिक काल : गद्य-पद्य-उत्थान

### 10.1 आधुनिक काल का इतिहास लेखन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा है। उक्त इतिहास में संवत् 1900 से संवत् 1980 अर्थात् सन् 1843 ई० से 1923 ई० के काल को आचार्य शुक्ल ने 'आधुनिक काल' कहा है। पर्यायी रूप में वे इस काल को गद्य काल भी कहते हैं। हम अनुभव करते हैं कि रीतिकाल तक जिस पद्धति से इतिहास लिखा गया, उससे कुछ हटकर ही आधुनिक काल का इतिहास लिखा गया है। आधुनिक काल का कुछ भाग विशेष रूप से 1901 ई० से 1930 ई०—लगभग तीन दशक—का काल ऐसा है, जिसे शुक्लजी का समसामयिक काल कहना पड़ेगा। आधुनिक काल के बहुत से साहित्यकारों का परिचय उन्होंने व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण भी दिया है। शुक्लजी के इतिहास में जिन लेखकों या कवियों का उल्लेख हुआ है, उनमें से बहुत-से अब भी जीवित हैं। संक्षेप में मैं कहना यह चाहता हूँ कि रीतिकाल तक का इतिहास लिखना और आधुनिक काल का इतिहास लिखना—एक समान नहीं है। मैं यहाँ अपने आपको आधुनिक काल तक सीमित रखते हुए शुक्लजी के इतिहास लेखन का विवेचन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

### 10.2 गद्य खंड का स्वरूप

आधुनिक काल के अन्तर्गत गद्य खण्ड और पद्य खण्ड अलग-अलग किए गए हैं। दोनों ही खण्डों पर अलग-अलग रूपों में विचार किया गया है। आधुनिक काल को पूरी पुस्तक में 44 प्रतिशत स्थान मिला है [यह मैं 'काल विभाजन' से सम्बन्धित अध्याय में लिख चुका हूँ] इस 44 प्रतिशत में 320 पृष्ठ हैं। इन 320 पृष्ठों में गद्य खण्ड को 174 पृष्ठ मिले हैं। शेष पद्य-खण्ड के 146 पृष्ठ हैं। निश्चित ही गद्य ने पद्य से अधिक स्थान लिया है। गद्य खण्ड को पुनः अलग-अलग पाँच शीर्षकों में विभाजित किया है :—

1 गद्य का विकास (आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था) ब्रजभाषा गद्य, खड़ी बोली का गद्य ... 33 पृष्ठ
2 गद्य साहित्य का आविर्भाव ... ... 11 पृष्ठ
3 प्रथम उत्थान (1925 संवत् से 1950 संवत्) सामान्य परिचय ... ... 41 पृष्ठ
4. गद्य साहित्य का प्रसार, द्वितीय उत्थान (1950 से 1975 संवत्)

| | | |
|---|---|---|
| सामान्य परिचय | 5 पृष्ठ | |
| नाटक | 4 पृष्ठ | |
| उपन्यास-कहानियाँ | 5 पृष्ठ | |
| छोटी कहानियाँ | 3 पृष्ठ | |
| निबन्ध | 20 पृष्ठ | |
| समालोचना | 7 पृष्ठ | 44 पृष्ठ |

5 गद्य-साहित्य की वर्तमान गति तृतीय उत्थान (संवत् 1975 से)

| | | |
|---|---|---|
| सामान्य परिचय | 3 पृष्ठ | |
| उपन्यास-कहानी | 8 पृष्ठ | |
| छोटी कहानियाँ | 6 पृष्ठ | |
| नाटक | 10 पृष्ठ | |
| निबन्ध | 3 पृष्ठ | |
| समालोचना और काव्य-मीमांसा | 15 पृष्ठ | 45 पृष्ठ |
| | | कुल 174 पृष्ठ |

यह विचार करने की बात है कि शुक्लजी ने इतिहास लिखना 1922-23 ई० में आरम्भ किया था, उस समय द्वितीय उत्थान पूरा हुआ ही था। तीन-चार वर्ष अधिक हुए थे। शुक्लजी के नियम से द्वितीय उत्थान का समय 1893 ई० से 1918 ई० है। शुक्लजी ने अपना लेखन सन् 1927 ई० में पूर्ण किया। अर्थात् उनका इतिहास द्वितीय उत्थान तक की सीमा को ध्यान में रखकर ही लिखा गया है। तृतीय उत्थान तो पीछे से संशोधित परिवर्द्धित संस्करण में जोड़ा गया भाग है। जैसे कि पहले ही कहा गया है—प्रथम संस्करण सन् 1929 ई० में छपा था। अर्थात् ठीक द्वितीय उत्थान के पूर्ण होने पर—एक दशाब्दी बाद में कह लीजिए। संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण सन् 1940 ई० का है। तृतीय उत्थान को वे

गद्य-साहित्य की वर्तमान गति बहुत भी है।

10.3. गद्य खण्ड : प्रथम उत्थान

गद्य-खण्ड की तालिका ऊपर दी गई है। इसमें 33 तथा 13 पृष्ठ (कुल 46 पृष्ठ) तो गद्य के विकास और गद्य साहित्य के आविर्भाव में निकल गये। बाद में तीनों उत्थानों को वे क्रमशः 39, 44 और 45 पृष्ठ दे पाये हैं। प्रथम उत्थान के अन्तर्गत प्रधान रूप से भारतेन्दु एवं भारतेन्दु-मण्डल के लेखकों का परिचय देते हैं। प्रथम उत्थान का बहुत-सा स्थान भारतेन्दु ने ले लिया है। राजा शिवप्रसादसिंह और राजा लक्ष्मणसिंह के गद्य को प्रस्ताव रूप में मानते हुए भारतेन्दु के गद्य को शुक्लजी ने प्रकृत साहित्यिक और परिष्कृत गद्य माना है। पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु मण्डल के लेखक थे। प्रथम उत्थान का पहले वे सामान्य परिचय देते हैं। इस परिचय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समय में काम करने वाले लेखक हैं, जिन्होंने पत्रकारिता के माध्यम से हिन्दी गद्य को आगे बढ़ाया और भाषा को साहित्यिक गौरव दिलाया। भारतेन्दु के जीवनकाल में प्रकाशित होने वाली 27 पत्र-पत्रिकाओं की तालिका, सम्पादकों के नाम के साथ-साथ दी गई है। उनके स्थान भी बतलाए गये हैं। कुछ प्रमुख पत्रिकाओं का विस्तृत परिचय भी दिया है। नाटकों और निबन्धों की ओर विशेष झुकाव रहा है। उपन्यास प्रायः कम लिखे गये। आरम्भिक मौलिक उपन्यासों में परीक्षागुरु (लाला श्रीनिवासदास), निस्सहाय हिन्दू (राधाकृष्णदास), नूतन ब्रह्मचारी (बालकृष्ण भट्ट) आदि उपन्यासों का उल्लेख शुक्लजी ने किया है। उपन्यासों का विकास नाटकों और निबन्धों की तुलना में विकसित नहीं हो पाया। बंगला से कुछ उपन्यासों के अनुवाद हिन्दी में हुए हैं। प्रथम उत्थान एक प्रकार से साहित्यिक उत्थान का प्राथमिक चरण ही है इस उत्थान में नाटक, उपन्यास, समालोचना तथा गद्य के अन्य रूपों का अलग-अलग परिचय नहीं दिया जा सका है। सामान्य परिचय के बाद इस उत्थान के केन्द्र में रहने वाले इस युग के मण्डल के प्रधान स्तम्भ भारतेन्दु का विस्तृत परिचय शुक्लजी ने दिया है। यह परिचय 6 पृष्ठों में है। भारतेन्दु के बाद जिन लेखकों का परिचय दिया है, वे हैं—प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय पं० बदरी नारायण चौधरी, लाला श्रीनिवासदास, बाबू तोताराम, पं० केशवराम भट्ट, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० मोहन लाल, विष्णुलाल, पंड्या, पं० भीमसेन शर्मा, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्ण दास, कार्तिक प्रसादखत्री और फ्रेडरिक पिन्काट। इसके बाद प्रचार कार्य का परिचय अलग से दिया है। नागरी अक्षरों के प्रचार का काम अनेक स्थानों से इन दिनों में आरम्भ हो गया था। ऐसी संस्थाओं का परिचय यहाँ दिया गया है। अलीगढ़ में भाषा-

मे—सन् 1931 में—हस के आत्मकथा विशेषांक मे—प्रकाशित हुआ। मैं यहाँ पर इन लेखो में क्या लिखा गया है, इसका विवेचन नहीं करूँगा। मैं कहना यह चाहता हूँ कि द्वितीय उत्थान के लेखकों-कवियों की तुलना में शुक्लजी का ध्यान भारतेन्दु-मण्डल के—प्रथम उत्थान के—लेखकों-कवियो पर अधिक था। अपनी पूर्व पीढ़ी के प्रति, जिससे उन्होने संस्कार अर्जित किए, उनके मन मे श्रद्धा-स्नेह का भाव था। इन लेखकों से सम्बन्धित लेख पढ़ जाएं तो इन लेखों में वैयक्तिक स्पर्श भी मिलता है। यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर दूँ कि अपने निर्णय मे समीक्षात्मक मूल्यांकन मे— शुक्लजी ने अपने साहित्यिक पैमानो का उपयोग यथास्थान ठीक-ठीक रूप मे किया है। उदाहरण के लिए बाबू काशीनाथ खत्री के सम्बन्ध मे सरस्वती मे (1906 ई० में) प्रकाशित लेख और हिन्दी साहित्य के इतिहास मे उसी लेखक के सम्बन्ध मे विवरण और मूल्यांकन देख लें तो ज्ञात हो जाएगा। सरस्वती के लेख मे लेखक का व्यक्तिगत जीवन है, हिन्दी भाषा सम्बन्धी सेवाओं का विवरण है और जीवन मे लब्ध उपलब्धियों, सफलताओं का उल्लेख है। अनुवाद आदि कार्यों की समीक्षा भी है और कुल 23 रचनाओ की तालिका दी है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह सब लिखने के लिए जगह नहीं। इतिहास मे रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा—

> "शुद्ध साहित्य कोटि मे आनेवाली रचनाएं, इनकी बहुत कम हैं। ये तीन पुस्तकें उल्लेख योग्य हैं—(1) ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी नाटक, (2) तीन ऐतिहासिक नाटक (?) रूपक (3) बाल-विधवा सताप नाटक।"[117]

इतिहास मे वैयक्तिक परिचय भी कम है।

### 10.5 फ्रेडरिक पिन्काट

फ्रेडरिक पिन्काट पर लेख ही नहीं लिखा, वह तो विस्तार से लिखा ही गया है (सरस्वती 1908) इसके साथ-साथ इतिहास मे भी काफी जगह दी है। इतिहास मे इनके लिए दो पृष्ठ दिये हैं। भारत से बाहर रहकर हिन्दी के लिए उन्होंने जो कार्य किया है उसका विस्तृत विवरण पिन्काट साहब के पत्रों के आधार पर दिया गया है। 'बालदीपक' और 'विक्टोरिया चरित्र'—उनकी पुस्तकें हैं। पिन्काट साहब पर शुक्ल जी ने जो कुछ लिखा है, उससे पता लगता है कि शुक्ल जी हिन्दी को विदेश में मान्यता मिलने से प्रसन्न थे।

### 10.6 बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन

भारतेन्दु मण्डल के दो लेखक तो ऐसे हैं, जिनके साथ शुक्लजी का वैयक्तिक सम्पर्क रहा है। उनमे उपाध्याय प० बदरीनारायण प्रेमघन का नाम विशेष

संवर्धिनी, प्रयाग में हिन्दी-उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य-सभा और काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा का उदय इन्ही दिनो मे हो गया था। सभाओ मे काम करने वाले अनेक व्यक्तियों का उल्लेख शुक्लजी ने किया है और उनकी सेवाओं की सराहना की है। विशेष रूप से नागरी प्रचारिणी सभा का परिचय विस्तृत रूप मे दिया गया है।

## 10 4. भारतेन्दु युग के संस्कार

यहा पर मैं द्वितीय उत्थान की ओर न बढकर प्रथम उत्थान के सम्बन्ध मे कुछ विशेष तथ्यों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक समझता हू। यह ठीक है कि जिस वर्ष भारतेन्दुजी की मृत्यु हुई थी, उसी वर्ष शुक्लजी का जन्म हुआ था। इस पर भी भारतेन्दु युग के सस्कार शुक्लजी को बाल्यावस्था मे प्राप्त हुए थे। वैसे तो उनके हिसाब से प्रथम उत्थान का समय सवत् 1925 से 1950 सवत् तक का है। इन पच्चीस वर्षों को पूरी तरह से भारतेन्दुजी के साथ हम नही जोड सकते। क्योकि भारतेन्दुजी की मृत्यु सवत् 1941 मे हो गई थी और शुक्लजी का प्रथम उत्थान उनके बाद भी और नौ वर्षों तक चलता रहा है। काल का यह विभाजन शुक्लजी ने लेखक को ध्यान मे रखकर नही, अपितु 25 वर्ष की अवधि (पाव-शतक) या एक पीढ़ी की अवधि को ध्यान मे रखकर किया है। आज तो छठा दशक, सातवां दशक और आठवां दशक के रूप में हम काल का उल्लेख कर रहे हैं। इससे लगता है परिवर्तन की गति जितनी तेज हो रही है, काल की अवधि की सीमाए उतनी ही कम हो रही हैं। इसमें कोई सदेह नही कि भविष्य मे हम दशकों के स्थान पर पंचकों तक न उतर आए। अस्तु। मुझे कहना यह है कि भारतेन्दुजी की मृत्यु के बाद सवत् 1950 तक—मृत्यु के नौ वर्ष बाद तक—प्रथम उत्थान चलता रहा है और यदि यह सीमा इस रूप मे स्वीकार करते हैं तो शुक्लजी को बाल्यावस्था में भारतेन्दुजी के मण्डल के सस्कार प्राप्त हुए हैं, यह मानना पड़ेगा। भारतेन्दु युग के जिन लेखकों पर शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास से हटक —अलग से या स्वतत्र रूप मे कहिए—लिखा है, उनमे प्रमुख नाम ये हैं—(1 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, (2) उपाध्याय प० बदरी नारायण चौधरी, (3) क काशीनाथ खत्री और (4) फ्रेडरिक पिन्काट। इन लेखकों से सम्बन्धित ले चिन्तामणि भाग 3, में प्रकाशित हो गये हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर एक लेख चिन्तामणि भाग 1, मे भी है। काशीनाथ खत्री पर लेख 1906 ई० में नि और यह सरस्वती में नवम्बर 1906 के अक मे प्रकाशित हुआ। शुक्लजी उस व की दे। 1903 ई० मे फ्रेडरिक पिन्काट पर लेख लिखा और बा हुआ। भारतेन्दु पर लिखा हुआ लेख 1910 का इतिहास लिखने के

मे—सन् 1931 में—हस के आत्मकथा विशेषांक मे—प्रकाशित हुआ। मैं यहाँ पर इन लेखों में क्या लिखा गया है, इसका विवेचन नही करूँगा। मैं कहना यह चाहता हूँ कि द्वितीय उत्थान के लेखको-कवियों की तुलना मे शुक्लजी का ध्यान भारतेन्दु-मण्डल के—प्रथम उत्थान के—लेखकों-कवियो पर अधिक था। अपनी पूर्व पीढ़ी के प्रति, जिससे उन्होंने सस्कार अर्जित किए, उनके मन में श्रद्धा-स्नेह का भाव था। इन लेखको से सम्बन्धित लेख पढ़ जाएं तो इन लेखो में वैयक्तिक स्पर्श भी मिलता है। यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर दूं कि अपने निर्णय में समीक्षात्मक मूल्यांकन मे—शुक्लजी ने अपने साहित्यिक पैमानो का उपयोग यथास्थान ठीक-ठीक रूप मे किया है। उदाहरण के लिए बाबू काशीनाथ खत्री के सम्बन्ध मे सरस्वती मे (1906 ई० में) प्रकाशित लेख और हिन्दी साहित्य के इतिहास मे उसी लेखक के सम्बन्ध मे विवरण और मूल्यांकन देख लें तो ज्ञात हो जाएगा। सरस्वती के लेख मे लेखक का व्यक्तिगत जीवन है, हिन्दी भाषा सम्बन्धी सेवाओ का विवरण है और जीवन में लब्ध उपलब्धियो, सफलताओं का उल्लेख है। अनुवाद आदि कार्य की समीक्षा भी है और कुल 23 रचनाओ की तालिका दी है। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे यह सब लिखने के लिए जगह नही। इतिहास मे रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा—

> "शुद्ध साहित्य कोटि मे आनेवाली रचनाएं, इनकी बहुत कम हैं। ये तीन पुस्तकें उल्लेख योग्य हैं—(1) ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी नाटक, (2) तीन ऐतिहासिक नाटक (?) रूपक (3) बाल-विधवा संताप नाटक।"[117]

इतिहास में वैयक्तिक परिचय भी कम है।

### 10.5 फ्रेडरिक पिन्काट

फ्रेडरिक पिन्काट पर लेख ही नहीं लिखा, वह तो विस्तार से लिखा ही गया है (सरस्वती 1908) इसके साथ-साथ इतिहास मे भी काफी जगह दी है। इतिहास में इनके लिए दो पृष्ठ दिये हैं। भारत से बाहर रहकर हिन्दी के लिए उन्होंने जो कार्य किया है उसका विस्तृत विवरण पिन्काट साहब के पत्रों के आधार पर दिया गया है। 'बालदीपक' और 'विक्टोरिया चरित्र'—उनकी पुस्तकें हैं। पिन्काट साहब पर शुक्ल जी ने जो कुछ लिखा है, उससे पता लगता है कि शुक्ल जी हिन्दी को विदेश में मान्यता मिलने से प्रसन्न थे।

### 10.6 बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन

भारतेन्दु मण्डल के दो लेखक तो ऐसे हैं, जिनके साथ शुक्लजी का वैयक्तिक [illegible]र है। उनमें उपाध्याय पं० बदरीनारायण प्रेमघन का नाम विशेष

उल्लेखनीय है। मिर्जापुर मे शुक्लजी का सम्पर्क प्रेमघन जी से हुआ। भारतेन्दु मण्डल के संस्कार वास्तव मे शुक्लजी को अपने पिता चन्द्रबली पण्डेय से और प्रेमघन जी से प्राप्त हुए हैं। हंस के आत्मकथा अंक में 1931 ई० मे 'प्रेमघन की छाया स्मृति' लेख छपा है। लेख आत्मकथा की शैली में ही लिखा गया है। बचपन के साहित्यिक संस्कारो की छाया इस लेख मे है। प्रधान रूप से पिता को और पिता के ब्याज से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रति अपने आकर्षण के कारण शुक्लजी ने दिये हैं और दूसरे भारतेन्दु मण्डल के एक प्रधान स्तम्भ जिनके सम्पर्क मे शुक्लजी आए, उनका सजीव स्मृति रूप मे रेखांकन भी प्रस्तुत किया है। लेख अभूतपूर्व है। चन्द्रशेखर शुक्ल ने इस सम्बन्ध मे और भी विस्तार से लिखा है किन्तु शुक्लजी के अपने अनुभव उनके शब्दों मे पढ़ना और बात है। शुक्लजी ने इतिहास लिखते समय अपने अनुभवो को व्यक्त करते समय सयम रखा और विषय के साथ अपने वैयक्तिक अनुभव को—वैयक्तिक सम्पर्क के अनुभव को—जोडकर लिखा। इतिहास मे लिखा है—

> "किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे। कोई लेख लिखकर जब तक कई बार उसका परिष्कार *और मार्जन नहीं कर लेते थे तब तक छपने नहीं देते थे। भारतेन्दु के* वे घनिष्ट मित्र थे पर लिखने में उनके 'उतावलेपन' की शिकायत अक्सर किया करते थे। वे कहते थे बाबू हरिश्चन्द्र अपनी उमंग से जो कुछ लिख जाते थे उसे यदि एक बार और देखकर परिमार्जित कर लिया करते तो वह और भी सुडौल और सुन्दर हो जाता। एक बार उन्होंने मुझसे कांग्रेस के दो दल हो जाने पर एक नोट लिखने को कहा। मैंने जब लिखकर दिया तब उसके किसी वाक्य को पढ़कर वे कहने लगे कि इसको यों कर दीजिए—'दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दल-दल में फंस रहा।' भाषा अनुप्रासमयी और चुहचुहाती होने पर भी उनका पद-विन्यास व्यर्थ आडम्बर के रूप में नहीं होता था। उनके लेख अर्थगर्भित और सूक्ष्म-विचारपूर्ण होते थे। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिन्दी का

मिला—'आँख आई है।' वे झट बोल उठे— 'यह आँख बड़ी बला है, इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है।' अनेक विषयों पर गद्य प्रबन्ध लिखने के अतिरिक्त 'हिन्दी प्रदीप' द्वारा भट्टजी संस्कृत-साहित्य और संस्कृत के कवियों का परिचय भी अपने पाठकों को समय-समय पर कराते रहे। पंडित प्रताप नारायण मिश्र और पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी गद्य-साहित्य मे वही काम किया है जो अंग्रेजी गद्य-साहित्य मे एडीसन और स्टील ने किया था।[119]

### 10.8 प्रथम उत्थान की जिन्दादिली

प्रथम उत्थान का अन्तिम अनुच्छेद बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। विषय को समेटते हुए ही लिखा गया है किन्तु इसमे प्रथम उत्थान की जिन्दादिली का विशेष उल्लेख है—

> "नूतन हिन्दी साहित्य का वह प्रथम उत्थान कैसा हंसता-खेलता सामने आया था, भारतेन्दु के सहयोगी लेखकों का वह मण्डल जिस जोश और जिंदादिली के साथ और कैसी चहल-पहल के बीच अपना काम कर गया, इसका उल्लेख हो चुका है···भारतेन्दु जी के सहयोगी अपने ढर्रे पर कुछ लिखते तो जा रहे थे, पर उनमें वह तत्परता और वह उत्साह नही रह गया था। हरिश्चन्द्र के गोलोकवास के कुछ आगे पीछे जिन लोगों ने साहित्य सेवा ग्रहण की थी वे ही अब प्रौढता प्राप्त करके काल की गति परखते हुए अपने कार्य मे तत्पर दिखाई देते थे। उनके अतिरिक्त कुछ नए लोग भी मैदान मे धीरे-धीरे उतर रहे थे। यह नवीन हिन्दी साहित्य का द्वितीय उत्थान था जिसके आरम्भ मे 'सरस्वती' पत्रिका के दर्शन हुए।"[120]

### 10.9. पुरानी धारा नई धारा

द्वितीय उत्थान पर कुछ लिखने से पूर्व पद्य खण्ड के प्रथम उत्थान के साथ तुलना करना आवश्यक समझता हू। काव्य खण्ड को शुक्ल जी ने दो नामों मे विभाजित किया है—(1) पुरानी धारा और (2) नई धारा। नई धारा के फिर तीन उत्थान दिखलाये गये हैं। ग्यारह पृष्ठों मे पुरानी धारा का परिचय दिया है और प्रथम उत्थान के लिए कुल बारह पृष्ठ दिए हैं। 23 पृष्ठों मे प्रथम उत्थान तक का पूरा इतिहास लिख दिया गया है। गद्य से तुलना करें। प्रथम उत्थान के समापन तक 85 पृष्ठ दिए गये हैं। पुरानी धारा एक प्रकार से रीतिकाल से चली आती हुई धारा है। रीतिकाल को शुक्लजी ने तीन प्रकरणों में अलग-अलग रूप मे लिखा है। इसमे प्रथम प्रकरण रीतिकाल के सामान्य परिचय से सम्बन्धित है।

दूसरा प्रकरण रीति-ग्रन्थकार कवियों से सम्बन्धित है। दूसरे प्रकरण में जिन कवियों का परिचय दिया गया है, वे सब लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले—रीति-ग्रन्थकार कहना चाहिए—कवि हैं, रीतिकाल के शेष कवियों को शुक्लजी रीतिकाल में अन्य कवि कहते हैं। आधुनिक काल की पुरानी धारा का सम्बन्ध रीतिकाल के अन्य कवियों से ही है। पुरानी धारा के आरम्भ में ही शुक्लजी लिखते हैं—

> "ब्रजभाषा काव्य की परम्परा गुजरात से लेकर बिहार तक और कुमाऊँ, गढ़वाल से लेकर दक्षिण भारत की सीमा तक बराबर चलती आई है। कश्मीर के किसी ग्राम के रहने वाले ब्रजभाषा के एक कवि का परिचय हमें जम्मू के किसी महाशय ने दिया था और शायद उनके दो एक सवैये भी सुनाये थे।"[13]

इन पंक्तियों को उद्धृत करने का कारण यह है कि ब्रजभाषा साहित्यिक भाषा के रूप में भौगोलिक विस्तार पा चुकी थी। रीतिकाल के अन्य कवि से लेकर पुरानी धारा तक के कवियों का सम्यक् विवेचन साहित्य के इतिहास में अलग रूप से होना चाहिए। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी और भौगोलिक व्याप्ति के सन्दर्भ में शुक्लजी ने अपने इतिहास में संकेत तो दे दिए हैं किन्तु उनका पल्लवन-विवेचन नहीं हुआ है।

### 10.10 पुरानी धारा के कवि

पुरानी धारा के जिन कवियों का उल्लेख शुक्लजी ने किया है, वे हैं—गढ़वाल के मोलाराम, सेवक, महाराज रघुराज सिंह रीवाँ-नरेश, सरदार, बाबा रघुनाथदास रामसनेही, ललित किशोरी, राजा लक्ष्मण सिंह, लछिराम (ब्रह्मभट्ट) गोविंद गिल्लाभाई, और नवीन चौबे। इसके बाद शुक्लजी ने, भारतेन्दु ने जो कविसमाज स्थापित किया था, उसका परिचय दिया है। इसमें प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरी-नारायण (प्रेमघनजी), ठाकुर जगमोहन सिंह, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, लाला सीताराम आदि का साहित्यिक परिचय दिया है। खड़ी बोली के दो कवियों का उल्लेख भी पुरानी धारा के कवियों में हो गया है क्योंकि वे दोनों भी पहले ब्रजभाषा में लिखते रहे हैं—अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्रीधर पाठक। इसी सन्दर्भ में इस धारा के अन्तर्गत दो-तीन नाम और प्रमुख हैं—जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद पूर्ण और वियोगी हरि। इन तीनों का परिचय शुक्लजी ने विस्तार के साथ दिया है। इनमें से वियोगीहरि तो आज भी वर्तमान है। उनसे बात करें तो अपने युग की चेतना को आज भी मुखरित करते प्रतीत होते हैं। प्रथम उत्थान में कविता की भाषा का बदलाव नहीं दिखाई देता। कुछ विषय बदले हैं। कविता ब्रजभाषा में ही लिखी जाती रही है। पुरानी धारा में भारतेन्दु-मण्डल के कुछ कवियों का उल्लेख हो गया था।

उनका यहाँ पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ-साथ विस्तृत परिचय दिया गया है। कविता के विषय लोक-हित, समाज-सुधार मातृभाषा के उद्धार और सबसे अधिक देशभक्ति रहे हैं। विषयों के साथ-साथ कविता के विधान का परिचय भी शुक्लजी ने दिया है। लिखा है—

> "नवीनधारा के आरम्भ मे छोटे-छोटे पद्यात्मक निबन्धो की परम्परा भी चली जो प्रथम काल के उत्थान काल के भीतर तो बहुत कुछ भाव प्रधान रही, पर आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक [मैटर ऑफ फैक्टर] होने लगी।"122

पुरानी धारा में जो नाम भारतेन्दु-मण्डल के साथ आए थे उनका परिचय विस्तार से नई धारा के प्रथम उत्थान मे दिया है। विशेष रूप से लावनीबाजों का उल्लेख यहाँ नया है। 'तुकन गिरि गोसाईं' और उनके दो शिष्य 'रिसाली गिरि' और 'देवीसिंह' का नाम कलगी तुर्रे के सदर्भ में दिया है। प्रथम उत्थान के अन्त में खड़ी बोली की कविता की आवाज उठने लगी थी और उनमे प्रमुख नाम अयोध्याप्रसाद खत्री, श्रीधर पाठक आदि हैं।

### 10.11 भारतेन्दु युग : गद्य-पद्य

सच देखा जाय तो प्रथम उत्थान तक के इतिहास को एक प्रकार से साहित्य का इतिहास कहने की अपेक्षा भाषा का इतिहास कहना अधिक उचित होगा। शुक्ल जी ने अनजाने मे ही प्रथम युग को भारतेन्दु युग बना दिया है। गद्य हो या पद्य दोनों ही स्थानो पर भारतेन्दु छाये हुए लगते हैं। हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य की सेवा करनेवालो का यह इतिहास अधिक है और ठीक साहित्य के विकास के रूप में इसे प्राथमिक तैयारी का रूप ही कहना अधिक उचित जान पड़ता है। गद्य और पद्य दोनों में काम करने वाला मण्डल भारतेन्दु मण्डल था। गद्य-पद्य के विभाजन के कारण दोनों ही स्थानो पर उनका परिचय अलग-अलग देना पड़ा है। गद्य मे खड़ी बोली ने आसन जमा लिया था और पद्य के क्षेत्र मे अब भी ब्रज भाषा चल रही थी।

### 10.12 द्वितीय उत्थान : शुक्लजी का समसामायिक युग

द्वितीय उत्थान पर लिखने से पूर्व मैं स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हू कि यह शुक्लजी का समसामयिक युग है। शुक्लजी स्वय इस युग की देन हैं। भारतेन्दुयुग की अपेक्षा द्विवेदी युग के लेखक आज अधिक वर्तमान हैं। शुक्लजी स्वय भारतेन्दु युग के सस्कारो से प्रभावित हैं। भारतेन्दु युग के प्रति उनके मन में आदर और श्रद्धा का भाव है। भारतेन्दु युग के लेखकों-कवियो पर जैसे शुक्लजी ने अलग से लेख लिखे हैं और वे सरस्वती, हंस आदि पत्रिकाओ मे छपे हैं, वैसे द्वितीय उत्थान

"पिछले संस्करणों में वर्तमान अर्थात् आजकल चलते हुए साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों का संकेत मात्र करके छोड़ दिया गया था। इस संस्करण में समसामयिक साहित्य का अब तक आलोचनात्मक विवरण दे दिया गया है। जिससे आज तक के साहित्य की गतिविधि का पूरा परिचय प्राप्त होगा।"[128]

द्वितीय उत्थान के क्रम से तृतीय उत्थान का क्रम बदला हुआ है। सामान्य परिचय (3), उपन्यास-कहानी (8), छोटी कहानियाँ (6) नाटक (10) निबन्ध (3) तथा समालोचना और काव्य-मीमांसा (15) ...इस क्रम में यह इतिहास लिखा हुआ है। तृतीय उत्थान में शुक्लजी को निबन्धकार मिले ही नहीं। द्वितीय उत्थान में निबन्ध विधा को जहाँ 20 पृष्ठ दिए गए थे, वहाँ इस समय केवल 3 पृष्ठों में काम हो गया है। गीतांजलि की पद्धति के कुछ निबन्ध संग्रह निकले, जिनमें राय कृष्णदासजी की 'साधना', प्रवाल और 'छायापथ', वियोगीहरिजी का 'भावना और अन्तर्नाद', भवरमल सिंघी का 'वेदना' आदि। ये सब आध्यात्मिक निबंध हैं। प्रत्य-भिज्ञा के रूप में मुगलकालीन भावनाओं को काव्यात्मक गद्य के रूप में निबंध लिखने वाले महाराजकुमार रघुवीरसिंह को भी तृतीय उत्थान का निबन्धकार मानते हैं। निबन्धों में लेखकों की विशेष गति न देखकर वे साफ कहते हैं कि घोर विचार शैथिल्य है और बुद्धि के आलस्य फैलने की आशंका है। तृतीय उत्थान में प्राथमिक स्थान उपन्यास कहानी को दिया है। वे मानते हैं कि वर्तमान जगत में उपन्यासों की शक्ति बड़ी है। प्रेमचन्दजी, प० विश्वम्भरनाथ कौशिक, बाबू प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्री जैनेन्द्रकुमार आदि ने सामाजिक उपन्यास लिखे हैं और वृन्दावन लाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। प्रेमचन्द के गबन उपन्यास, भगवती चरण वर्मा के चित्रलेखा, वृदावनलाल वर्मा के गढ़कुंडार और विराटा की पद्मिनी की विशेष चर्चा शुक्लजी ने की है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में सन् 1910 ई० में शुक्लजी ने उपन्यास शीर्षक एक लेख भी लिखा है। इसमें उन्होंने उपन्यास के महत्व को स्थापित किया है। ऐतिहासिक उपन्यास अधिक नहीं लिखे गये। शुक्लजी चाहते थे कि जयशंकर प्रसाद ने जैसे इतिहास को आधार बनाकर नाटक लिखे, वैसे ही उपन्यास भी लिखें। इस सम्बन्ध में लिखा है..."

"इसी पद्धति पर (अर्थात् ऐतिहासिक पद्धति पर) उपन्यास लिखने का अनुरोध हमने उनसे एक बार किया था जिसके अनुसार शुंगकाल —पुष्यमित्र अग्निमित्र का समय—का चित्र उपस्थित करने वाला एक बड़ा मनोहर उपन्यास लिखने में उन्होंने हाथ भी लगाया था, पर हमारे साहित्य के दुर्भाग्य से उसे अधूरा छोड़कर ही चल बसे।"[129]

स्वय शुक्लजी ने राखालदास बंद्योपाध्याय के उपन्यास 'शशांक' का हिन्दी अनुवाद किया था। इसकी भूमिका अब चिन्तामणि भाग 3, में छप गई है। भूमिका में

ऐतिहासिक ज्ञान है और तदनुसार अनुवाद में शुक्लजी ने जो परिवर्तन-परिवर्द्धन किया है, उसके कारण भी दिए हैं। शुक्लजी की [illegible] विदुषी थीं। उन्होंने भी एक बंगला उपन्यास 'कपालकुंडली' का हिंदी अनुवाद किया था और इसकी भूमिका भी शुक्लजी ने लिखी।[11] मैं कहना चाहता हूँ कि शुक्लजी ऐतिहासिक उपन्यासों के पक्ष में थे और जो कोई इस तरह का काम कर रहा था, उसकी सराहना करते थे। इतिहास में उन्होंने उपन्यास के तत्त्व पर भी व्यावहारिक रूप से विचार किया और उसके अपने समय तक जितने तकनीकी रूप हो सकते थे, उन रूपों की सोदाहरण विशेषताएँ बतलाईं। मराठी साहित्य पर लिखा तो बहुत संक्षेप में है, पर यह सब विषय-वस्तु के अनुसार और तकनीकी विशेषताएँ बतलाते हुए लिखा है। हर प्रकार की विशेषता बतलाते समय उसके लिए उदाहरण प्रस्तुत कर दिया। जैसे उपन्यासों निबन्धों आदि का विवेचन करते समय सामान्य प्रवृत्तियाँ लिखने के बाद प्रधान उपन्यासकारों या निबन्धकारों का परिचय देते रहे हैं, वैसे किसी कहानीकार विशेष का परिचय अलग से शुक्लजी ने नहीं दिया। क्योंकि जो कहानियाँ लिख रहे थे उनकी गति और-और विधाओं में भी रही है। अतः व्यक्ति रूप से उनका उल्लेख उन-उन विधाओं में किया गया है। नाटकों में भारतेन्दु के उल्लेख के साथ जयशंकर प्रसाद के नाटकों का विस्तृत विवेचन आरम्भ में किया है। प्रसाद के साथ-साथ हरिकृष्ण प्रेमी का नाम भी आया है। प्रसाद के नाटकों का स्वतंत्र विवेचन किया है। नाटकों के विवरण में 1/3 भाग प्रसाद ने ले लिया है। शेष भाग में और सब हैं। अन्य नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पन्त, प० लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, चतुरसेन शास्त्री, सुमित्रानन्दन पन्त, कैलाशनाथ भटनागर हैं। एकांकी नाटक में 'आधुनिक एकांकी नाटक' संग्रह का उल्लेख करते हुए उसके लेखकों के नाम दिए हैं—सुदर्शन, रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा, धर्मप्रकाश आनन्द और उदयशंकर भट्ट। कुछ अनुवादों का भी अन्त में उल्लेख किया है। अन्त में समालोचना और काव्य-मीमांसा है। तृतीय उत्थान में सबसे अधिक पृष्ठ काव्य-मीमांसा तथा समालोचना को ही दिए गए हैं। पद्य खंड के तृतीय उत्थान के बाद ही इस पर विचार करना उचित होगा।

### 10.16 पद्य खण्ड का स्वरूप

आधुनिक काल गद्य-खंड का सर्वेक्षण ऊपर प्रस्तुत कर दिया गया है। पद्य-खंड पर विचार करने से पहले हम तालिका देखें—

पुरानी धारा : 11 पृष्ठ, प्रथम उत्थान, 12 पृष्ठ, द्वितीय उत्थान 39 पृष्ठ और तृतीय उत्थान 84 पृष्ठ—कुल 146 पृष्ठ।

इस तालिका के साथ गद्य-खंड की तालिका देखनी चाहिए। गद्य-खंड के कुल 174

पृष्ठों में 46 पृष्ठ भाषा का इतिहास लिखने में गये, प्रथम उत्थान से तृतीय उत्थान के लिए क्रमशः 39, 44 तथा 45 पृष्ठ ही दिए जा सके हैं—कुल 128 पृष्ठ होते हैं। इसी तरह पद्य-खंड की पुरानी धारा के ग्यारह पृष्ठ छोड़ दें, तो तीनों उत्थानों के लिए कुल 12, 39 और 84—कुल 135 पृष्ठ होते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि भाषा के इतिहास को अलग से छोड़ दें तो गद्य की तुलना में पद्य को भी लगभग समान स्थान मिला है। पद्य के पृष्ठ कुछ अधिक ही आएँगे। गद्य के 128 और पद्य के 134 होते हैं। और फिर इसमें पुरानी धारा के ग्यारह पृष्ठ जोड़ दें तो पृष्ठ संख्या 146 हो जाती है। पद्य-खंड में भाषा का इतिहास लगभग नहीं है। गद्य-खंड के तो प्रथम तथा द्वितीय उत्थान में भी भाषा का इतिहास किसी-न-किसी रूप में मिल जाता है। गद्य-खंड का ठीक साहित्यिक विवेचन हमें तृतीय उत्थान में ही मिलता है। इस तुलना में पद्य-खंड में साहित्यिक विवेचन आरम्भ से ही मिलता है।

### 10.17 'गद्यकाल' नामकरण उचित है

हम तृतीय उत्थान को छोड़ दें और केवल द्वितीय उत्थान तक की बात करें तो आधुनिक काल को गद्य काल कहना ठीक लग सकता है। शुक्लजी ने जब इतिहास लिखना आरम्भ किया था, उस समय द्वितीय उत्थान तक ही सोचा जा सकता था और द्वितीय उत्थान तक की सामग्री में गद्य-साहित्य में ही नवीनता थी। पद्य-साहित्य के विषय पुरानी परिपाटी के थे और भाषा भी ब्रजभाषा के संस्कारों से प्रभावित थी। इस नाते साहित्य में आधुनिकता की खोज—नये-नये विषयों की और प्रवृत्तियों की खोज—प्रायः गद्य में ही दिखलाई दे रही थी और इस नाते उस समय शुक्लजी ने आधुनिक काल को गद्य काल कह दिया तो उनके औसतवाद में यह बात बैठती हुई भी लगती है।

### 10.18. पद्य खण्ड तृतीय उत्थान

शुक्लजी द्वारा ही लिखित तृतीय उत्थान हमें इस बात के लिए विवश करता है कि साहित्य की केन्द्रीय विधा कविता को ही मानना चाहिए और फिर केवल आधुनिक काल और गद्य-काल जैसे नाम आगे उपयुक्त नहीं होंगे। द्वितीय उत्थान तक तो शुक्लजी की बात ठीक मान लें। तृतीय उत्थान की उनकी ही सामग्री कहती है कि आधुनिक काल को मात्र गद्य-काल कहना ठीक नहीं है। गद्य-खंड के तृतीय उत्थान की तुलना में पद्य-खंड के तृतीय उत्थान को पृष्ठ अधिक दिए गए हैं। गद्य खंड के तृतीय उत्थान को 45 पृष्ठ दिए गए हैं, जब कि पद्य-खंड में तृतीय उत्थान को 84 पृष्ठ दिए गए हैं। विवरण इस प्रकार है—

सामान्य परिचय : 21 पृष्ठ,
व्रजभाषा काव्य-परम्परा : 1 पृष्ठ।
द्विवेदी-काल मे खड़ी बोली की काव्य-धारा : 6 पृष्ठ

छायावाद

| | |
|---|---|
| सामान्य परिचय | 11 पृष्ठ |
| जयशकर प्रसाद | 16 पृष्ठ |
| सुमित्रानदन पत | 21 पृष्ठ |
| सूर्यकात त्रिपाठी निराला | 5 पृष्ठ |
| महादेवी वर्मा | 1 पृष्ठ |
| छायावाद को कुल | 54 पृष्ठ |
| स्वच्छद धारा | 2 पृष्ठ |
| कुल | 84 पृष्ठ |

तृतीय उत्थान की नई धारा के साथ-साथ गद्यखड के समालोचना और काव्य मीमासा वाले अश पर विचार करना अभी बाकी है। लगता है इस सामग्री का बहुत-सा भाग सन् 1929 के प्रथम सस्करण मे नही रहा होगा। जिस समय शुक्ल जी ने (1921-1922 ई०) इतिहास लिखना आरम्भ किया, उस समय द्वितीय उत्थान को पूरे हुए दो-तीन वर्ष ही हुए थे। यह ठीक है कि द्वितीय उत्थान 1918 ई० तक ही रहा है किन्तु लिखते समय कम-से-कम हम पाँच वर्ष तो पीछे की सामग्री पर विचार करते हैं। ठीक समसामयिक पर इतिहास कैसे लिखा जाय? मान लें कि लिख रहे हैं, तब भी वह समय 1921-1922 तक ही पहुँचेगा। द्वितीय उत्थान मे निश्चित ही पद्य की अपेक्षा गद्य की प्रधानता शुक्लजी ने दिखलाई है और उसे उन्होंने अनुभव किया भी है। द्विवेदी युग की कविता को वे इतिवृत्तात्मक बतला भी देते हैं। स्वच्छदतावाद से सम्बन्धित उन्हें एक दो कवि ही मिले बाकी तो सब पुरानी परिपाटी के कवि थे। कविता की भाषा ब्रजभाषा होने के कारण कविता मे नवीनता के दर्शन जल्दी हुए भी नहीं। यह नवीनता साहित्य की विधाओं मे पहले-पहल गद्य मे ही दिखलाई दी। इस नाते शुक्लजी ने इतिहास की योजना बनाते समय इस काल को गद्यकाल कह दिया। सन् 1921-1922 की सीमा तक इस बात को स्वीकार कर भी सकते हैं।

10.19 तीनों उत्थानों की तुलना

शुक्लजी के प्रथम उत्थान में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पूरी तरह से छाये रहे हैं। गद्य से सम्बन्धित खड तो पूरा का पूरा भारतेन्दु मण्डल है ही, इसी तरह पद्य-खंड

का प्रथम उत्थान भी भारतेन्दु मण्डल है। जैसे वीरगाथा काल तथा भक्ति काल मे शुक्लजी को फुटकल खाते खोलने पड़े वैसे भारतेन्दु से सम्बन्धित प्रथम उत्थान मे—गद्य-पद्य दोनों मे—फुटकल खाता खोलने की आवश्यकता नही पड़ी है। पद्य-खण्ड में कुछ लावनी बाजों का उल्लेख अलग से अवश्य कर दिया और इसी तरह खड़ी बोली की नवीन धारा का कुछ संकेत दिया। किन्तु इससे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रथम उत्थान के प्रधान व्यक्तित्व रहे हैं, यह बात प्रमाणित है।

ठीक भारतेन्दु की तरह द्विवेदीजी अपने युग पर पूरी तरह से छाये हुए हैं, ऐसा नही कह सकते। गद्य के मामले मे भी और पद्य के मामले मे भी द्विवेदीजी के प्रभाव से मुक्त काफी काम हुआ है और इसे शुक्लजी ने अलग रूप से बतलाया भी है। निबन्ध, समालोचना और भाषा ज्ञान के सम्बन्ध मे उनका विशेष योगदान है। किन्तु नाटक, उपन्यास-कहानी, छोटी कहानियां आदि (सरस्वती के सम्पादक होने पर भी) पर उनका प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। द्विवेदीजी स्वय कवि भी थे और उन्होंने अपने मण्डल के अलग कवियो का निर्माण भी किया। इसलिए शुक्ल जी ने द्विवेदी-मण्डल के कवि और द्विवेदी-मण्डल से बाहर के कवि इस तरह का नामकरण भी किया है। कहना यह है कि भारतेन्दु की तरह द्विवेदीजी पूरी तरह से अपने युग से जुड़े हुए नहीं थे। शुक्लजी के द्वितीय उत्थान के विवरण से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। द्विवेदी युग में—द्वितीय उत्थान मे—शुक्लजी को फुट-कल खाता खोलना ही पड़ा है। द्वितीय-मण्डल के बाहर के कवियो को अलग से दिखलाना पड़ा है।

तृतीय उत्थान मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र या महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की तरह

विश्लेषण ही किये—उत्तरार्द्ध गद्य धारा के और छायावाद के रूप में मुक्तक के इतिहास को भी इस युग के रूप में प्रस्तुत करनेवाली धारा के और देखिए इन दोनों धाराओं के सर्वाधिक व्यक्तियों के प्रति उनका मोह रहा है। वे हैं श्री वियोगी हरिजी और महाराजकुमार रघुवीरसिंहजी। इन दोनों ही लेखकों की पुस्तकों की भूमिकाएँ शुक्लजी ने लिखी भी हैं।

द्वितीय उत्थान गद्य के लेखन की शैली इतिहासपरक है। तृतीय उत्थान में ऐसी बात नहीं है। यह काल उनके इतने नजदीक है कि शुक्लजी स्वयं उसके अंग हैं और अपने व्यक्तित्व के अनुरूप के प्रतिक्रिया व्यक्त करते प्रतीत होते हैं। तृतीय उत्थान के गद्य खंड की अपेक्षा पद्य-खंड में शुक्लजी ने सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन अधिक किया है। गद्य-खंड तथा पद्य-खंड दोनों की तुलना करें और विशुद्ध रूप से साहित्य की प्रवृत्तियों पर ध्यान केन्द्रित करें—साहित्य के विविध रूपों पर विचार न करते हुए—तो साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियाँ कविता में ही दिखाई देती हैं। साहित्य के इतिहास में यदि साहित्य की प्रवृत्तियों को प्रधान मानें—आचार्य शुक्ल के नियम से ही मानें—तो हमें कविता को केन्द्र में रखकर ही इसका विवेचन करना अधिक उचित जान पड़ता है। इस दृष्टि से हम चाहें तो दोनों उत्थानों की सामग्री को भी देख सकते हैं। इस मामले में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदाहरण देना अधिक उपयुक्त होगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने युग में गद्य की धाराओं से जुड़े हुए थे, उसी प्रकार वे पद्य की धाराओं से भी जुड़े हुए थे। दोनों धाराओं से जुड़े हुए होने पर भी भारतेन्दुजी स्वयं पद्य के लिए ब्रजभाषा अपनाते थे और गद्य के लिए खड़ी बोली। गद्यकार भी थे और पद्यकार भी थे। उनके गद्य में नवीनता थी और पद्य में नवीनता नहीं थी। भारतेन्दुजी को प्रसिद्धि गद्यकार होने के नाते मिली है। यदि वे केवल गद्य न लिखते और केवल कवि बनकर ही रह जाते तो संभवतः वे उतने ख्यात नहीं होते। भारतेन्दु के समय में साहित्य की नई प्रवृत्तियाँ गद्य में दिखलाई दीं। इसलिए इस प्रथम उत्थान को शुक्लजी ने गद्यकाल कहा तो ठीक ही कहा है। द्विवेदी युग में भी द्विवेदीजी स्वयं कवि हैं किन्तु वे भी कवि होने के नाते प्रसिद्ध नहीं हैं। गद्यकार के रूप में ही उनकी ख्याति है। द्विवेदी युग में भी साहित्य की नवीनता गद्य में ही दिखाई दे रही थी। पद्य में खड़ी बोली का आरंभ हो गया था किन्तु अब भी पद्य की नवीनता उसमें नहीं थी। द्विवेदी युग के कुछ कवियों को छोड़ दें—जो केवल कवि होने के नाते ही प्रसिद्ध हैं—तो बाकी हमें सब गद्यकार के रूप में ही अधिक मिलते हैं। और फिर मैं दोहराने के स्वर में यह सब इसलिए लिख रहा हूँ कि एक ही व्यक्ति यदि गद्य तथा पद्य दोनों में लेखन कार्य करे—सृजन कार्य करे—तो उसकी अपनी प्रधान विधा वही हो सकती है, जिसमें नवीनता के दर्शन अधिक हो सकते हैं या जिसमें साहित्यकार अधिक सक्षम, सहज हो। हम देखते हैं कि द्विवेदी युग तक साहित्य में गद्यकारों को अधिक ख्याति

मिली है और साहित्य मे नवीनता के दर्शन भी गद्य मे होते रहे हैं। इसलिए द्विवेदी युग तक के हिन्दी साहित्य को ध्यान में रखकर सन् 1918 ई० तक की बात करें तो शुक्लजी का कहना—इस काल को गद्य काल कहना ठीक भी लगता है।

## 10.20. छायावाद

मैं तो अनुभव करता हूँ कि शुक्लजी यदि सन् 1940 ई० मे इतिहास लिखने बैठते तो वे तृतीय उत्थान को गद्यकाल मे नहीं रखते। ऐसी बात नहीं कि इस बदलाव को उन्होंने अनुभव नहीं किया। इस प्रकार के बदलाव के संकेत उनकी सामग्री मे है। तृतीय उत्थान पर लिखते समय वे बार-बार पीछे मुड़कर प्रथम उत्थान और द्वितीय उत्थान के साथ उस समय की तुलना करते हैं और विकास की नई दिशाएँ बतलाते जाते हैं। तृतीय उत्थान के सामान्य परिचय (पद्य खड के) के आरम्भ के 21 पृष्ठ देखे जाएं तो छायावाद का प्राथमिक परिचय मिल जाता है। विदेशी साहित्यिक प्रवृत्तियों के साथ—विशेष रूप से काव्य की ही—भारत मे और यहाँ विशेष रूप से हिन्दी मे, काव्य के साथ तुलना भी प्रस्तुत कर दी गई है। स्वच्छदतावाद, कलावाद, अभिव्यञ्जनावाद, रहस्यवाद आदि सबका उल्लेख शुक्लजी करते जाते हैं और सामाजिक कविता की प्रवृत्तियों का बड़ा गूढ़ विवेचन-विश्लेषण करते हैं। इस सम्बन्ध मे हिन्दी कवियों के कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। द्विवेदी-मण्डल के कुछ कवियो की चर्चा भी करते हैं—ऐसे कवि जो तृतीय उत्थान मे भी लिख रहे थे—किन्तु नवीनता के दर्शन उन्हे छायावादी कवियों मे मिले हैं। उनके काव्य की शब्दावली भी उन्होंने प्रस्तुत की है और उनकी व्याख्या भी। यह सब तो आरम्भ के सामान्य परिचय में है। किन्तु इसके बाद छायावाद से सम्बन्धित 54 पृष्ठ अलग हैं। लगता है तृतीय उत्थान मे लगभग सारी सामग्री—उनके औसतवाद की दृष्टि से देखें तब भी—छायावाद ने घेर ली है। जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला कवियों को शुक्लजी ने जितने पृष्ठ दिये हैं, उतने पृष्ठ उन्होंने प्रथम उत्थान या द्वितीय उत्थान के किसी लेखक या कवि को नहीं दिये। भारतेन्दु प्रथम उत्थान पर छाये रहे किन्तु उन पर जो सामग्री अलग से है, वह इस परिणाम मे कम ही है और यही बात द्विवेदीजी के सम्बन्ध मे कह सकता हू। और फिर देखें कि छायावाद से सम्बन्धित इन कवियो ने गद्य भी कम नहीं लिखा। निराला, पंत तथा महादेवीजी ने भी गद्य लिखा है। किन्तु शुक्ल जी के इतिहास मे ही जयशंकर प्रसाद के गद्य का विशेष परिचय (गद्य-खड मे) मिलता है। निराला, पंत का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। महादेवी का उल्लेख सामान्य प्रवृत्तियाँ बतलाते समय तो ठीक से हो जाता है किन्तु शुक्लजी ने स्वतन्त्र रूप से महादेवी पर एक ही पृष्ठ लिखा है। सच बात यह है कि इस युग को छायावादी युग कहना ही पड़ेगा। [illegible]

को छायावादी युग कह दिया है।

छायावादी युग में आकर साहित्य की केन्द्रीय विधा कविता हो जाती है। साहित्य की नवीनता के दर्शन इसके बाद गद्य के स्थान पर पद्य में दिखलाई देने लगते हैं। ऐसी बात नहीं कि पद्य लिखने वालों ने गद्य नहीं लिखा हो। कवियों ने गद्य साहित्य भी विपुल परिमाण में लिखा है और द्विवेदीजी के समय से आगे बढ़कर उत्कृष्ट गद्य-साहित्य का सृजन किया है किन्तु उनके अपने निजी साहित्य में उनकी अपनी प्रधान विधा कविता ही रही है और कविता के आधार पर ही साहित्य की प्रवृत्तियों का विवेचन किया जा सकता था। यह स्थिति तृतीय उत्थान में सबसे पहले दिखलाई दी। ऐतिहासिक दृष्टि से शुक्लजी ने यह सब लिखा न हो किन्तु इस प्रकार के संकेत उन्होंने ठीक वैसे ही दे दिये हैं, जैसे रीतिकाल में अन्य कवियों का परिचय अलग से दिया है।

### 10 21 काव्य मीमांसा तथा समालोचना

काव्य-मीमांसा तथा समालोचना के क्षेत्र को देखें तो तृतीय उत्थान में ही कुछ गति दिखलाई देती है। द्विवेदी युग की समालोचना गुण-दोषों से युक्त थी, तुलनात्मक थी और संस्कृत साहित्य से प्रभावित थी। तृतीय उत्थान की समीक्षाओं में साहित्य की केन्द्रीय विधा कविता ही रही है। गद्य-साहित्य में नाटकों पर पुस्तकें मिल तो जाती है किन्तु प्रधान रूप से केन्द्र में कविता ही समीक्षा के केन्द्र में है। शुक्लजी ने कलाओं और साधनाओं की सूची दी है इनमें केशव की काव्य कला, प्रेमचन्द की उपन्यास कला, गुप्तजी की कला, प्रसाद की नाट्य कला, पद्माकर की काव्य साधना, प्रसाद की काव्य-साधना और मीरा की प्रेमसाधना है। कुछ और पुस्तकों का उल्लेख भी शुक्लजी ने किया। शुक्लजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये—

> "काव्य की 'छायावाद' कही जानेवाली शाखा चले काफी दिन हुए पर ऐसी कोई समीक्षा पुस्तक देखने में न आई जिसमें उक्त शाखा की रचना (तकनीक) प्रसार की भिन्न-भिन्न भूमियाँ, सोच समझकर निश्चित की गई हो। केवल प्रो० नगेन्द्र की 'सुमित्रानन्दन पंत' पुस्तक ही ठिकाने की मिली।"[128]

आरम्भ में शुक्लजी ने अपनी कृतियों, लाला भगवानदीन की कृतियों, उपाध्यायजी की कृतियों, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की कृति आदि का उल्लेख किया है। इनके संबंध में विस्तार से नहीं लिखा। छायावाद और बाद की प्रवृत्तियों से संबंधित समीक्षा पद्धतियों का वे विवरण देते हैं। प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा के दोष बतलाते हैं। इसके बाद वे पश्चिम की समीक्षा पद्धतियों का प्रभाव बतलाते हैं, मैं उन सबके विस्तार में नहीं जाऊँगा। विषय को समेटते हुए कहना यह चाहता हूँ कि

साहित्य की प्रवृत्तियों का सम्बन्ध कविता से रहा है। तृतीय उत्थान में समीक्षा में सम्बन्धित रचनाएँ कविता को केन्द्र में रखते हुए ही अभिव्यक्ति पाती रही हैं। नवीनता के दर्शन कविता में ही दिखलाने के प्रयत्न होने लगे थे।

### 10 22 आधुनिक काल अपूर्ण रह गया

आधुनिक काल का इतिहास आचार्य शुक्ल ने सशोधित सस्करणों के लिए लिखा था किन्तु दुर्भाग्य से वह जुड नहीं सका। इस सम्बन्ध में 'काल विभाजन' से सम्बन्धित अध्याय में पीछे लिखा गया है। सन्दर्भ एवं टिप्पणी स० 15 में आचार्य शुक्ल के पुत्र गोकुलचन्द्र शुक्ल की पक्तियाँ दी गई हैं। शुक्लजी यदि इतिहास-लेखन काम एक शताब्दी बाद में करते तो इतिहास का रूप कुछ और होता। सम्भवत वे आधुनिक काल को 'गद्य काल'—मात्र नहीं कहते। कारण यह है कि ठीक एक दशाब्दी बाद में ही 'कविता' साहित्य की केन्द्रीय विधा हो गई थी। काव्य की प्रवृत्तियों का विवेचन आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि भाग 2, में जिस प्रकार से किया है, उसे देखते हुए लगता है कि इतिहास में इस प्रकार के चिन्तन का विवेचन आधुनिक काल के अन्तर्गत नहीं हो सका है। जो सामग्री खो गई है, उसमे उस तरह का परिवर्तन उन्होंने निश्चित ही किया होगा। सन् 1940 ई० तक तो उन्होंने रहस्यमय और अभिव्यजनावाद जैसे निबन्ध लिख दिये थे। यदि उनकी खोई हुई सामग्री मिलती तो आधुनिक काल का स्वरूप कुछ और ही देखने को मिलता।

यह बात भी निश्चित रूप से स्वीकार करनी चाहिए कि सशोधित-परिवर्द्धित सस्करण में उन्होंने पद्य-खड में—तृतीय उत्थान के ही—जितनी सामग्री जोड़ी है, है, उतनी गद्य-खड के तृतीय उत्थान में नहीं जोडी है। गद्य-खड में कुछ नई सामग्री जुडी भी है, तो समालोचना और काव्य-मीमांसा वाले अश में ही जुडी है। शेष सामग्री में उन्होंने कुछ वाक्य भले ही यत्र-तत्र बदले हों किन्तु मूल ढाँचा लगभग वही रहा होगा। यह सब मैं अनुमान से लिख रहा हूँ। मुझे 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—का यदि प्रथम सस्करण देखने को मिलता तो निष्कर्ष निकालने में कुछ और सुविधा होती।

28 जनवरी 1985 से 1 फरवरी, 1985—अमृतसर में आयोजित शुक्ल संगोष्ठी के लिए मुझे निमन्त्रण मिला था। तदर्थ मैंने 'आधुनिक काल और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' आलेख भेज दिया था। अमृतसर जाने से पूर्व 25/26 नवम्बर 1984 को यहाँ पर आचार्य विष्णुकांत शास्त्री आए थे। उन्हें मैंने अपना आलेख दिखलाया और पूछा कि शुक्लजी ने सशोधित सस्करण में परिवर्तन क्या-क्या किया, इस सम्बन्ध में कुछ सकेत देंगे क्या? आचार्य विष्णुकांत शास्त्री ने कहा कि इस सम्बन्ध में डॉ० शिवमगलसिंह सुमनजी ही कुछ बतला सकेंगे। क्योंकि सुमनजी उन दिनों आचार्य शुक्ल से सम्पर्क बनाए हुए थे। मैंने सरल

सुमनजी को पत्र लिखा। पत्र का उत्तर तुरंत मिल गया। उत्तर इस प्रकार है—

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन'
उपाध्यक्ष

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन
हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग
लखनऊ—226001
दिनांक 12 दिसम्बर, 1984.

प्रिय भाई जोशीजी,

आपका दिनांक 26 नवम्बर का कृपा पत्र प्राप्त कर प्रसन्नता हुई। इस बीच मैं गुरु रविदास समारोह दिल्ली भी गया था और हिन्दी संस्थान, लखनऊ में भी उनके आयोजन में व्यस्त रहा, फलतः आपके पत्र का उत्तर समय पर न दे सका। इस बीच भोपाल से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'साक्षात्कार' मासिक में मेरा एक संस्मरण 'महाप्राणतापूर्ण कोशागार के आगार . आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। उसमें मैंने इस सम्बन्ध में चर्चा कर दी है। आशा है, इससे आपका कार्य चल जाएगा। संक्षेप में यह कह दूँ कि—

1. हिन्दी साहित्य के अंतिम संस्करण के सम्बन्ध में मेरे समकालीन और समवयस्क कवियों की कृतियों के संबंध में उन्होंने मुझसे जानकारी माँगी थी, जो मैंने लिखकर दे दी थी। उसमें प्रकाशित वह सूची उसी रूप में आपको उपलब्ध हो जाएगी।
2. वे इस संस्करण में छायावादी कवियों विशेषकर महादेवी और निराला के संबंध में भी विशेष रूप से लिखना चाहते थे, जिसके नोट्स भी उन्होंने तैयार कर लिए थे।

आप इससे अधिक कोई जानकारी चाहें तो प्रेषित करने में मुझे प्रसन्नता होगी।

सस्नेह एवं साभार—

आपका
शिवमंगलसिंह सुमन

पत्र से यह बात स्पष्ट होती है कि इतिहास में पृ० 720 तथा 721 पर कवियों तथा रचनाओं की जो सूची दी गई है वह डॉ० शिवमंगलसिंह सुमन जी द्वारा दी गई है। यह सूची छायावादी कवियों से सम्बन्धित ही है। सूची से पहले सूर्यकांत त्रिपाठी, निराला और महादेवी के सम्बन्ध में लिखा हुआ अंश है। लगता है यह अपूर्ण है। क्योंकि ठीक इसके पहले पन्त पर लगभग 21 पृष्ठों की सामग्री है। तो क्या फिर निराला 5 पृष्ठों में महादेवी 1 पृष्ठ में ही चलता कर दिया? ऐसा नहीं है। सामग्री जोड़ी नहीं गई। लिखी थी सो खो गई। अस्तु।

शुक्लजी की स्थापनाओं तथा उनकी समीक्षा-पद्धति या समसामयिक साहित्य

# 11. कितने नए कितने पुराने ?

## 11.1 कितने नए, कितने पुराने ?

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह जन्म शताब्दी वर्ष है और वैसे, आप सब तो आचार्य शुक्ल को किसी न किसी रूप में जानते ही हैं, इस अवसर पर शुक्ल जी को स्मरण करते समय किस विषय पर लिखूँ ? शुक्ल जी की मृत्यु सन् 1941 ई० में हुई। आज इस बात को 43 वर्ष (चार दशक से कुछ अधिक) हो चुके हैं। इसके बाद भी आज शुक्ल जी याद किए जाते हैं तो इसलिए कि उनमें अपने समय की नवीनता को आज भी मान्यता प्राप्त है। वे कितने पुराने हैं, इस बात पर तो उनके समय में ही उनको नकारने वालों ने उन्हें प्रकारांतर से (सीधे भले ही न नकारा हो) ललकारा है। वे नए भी हैं, वे पुराने भी हैं, कितने नए हैं और कितने पुराने हैं ? इसी विषय पर मैं कुछ कहने का प्रयत्न इस समय आपके सम्मुख करना चाहूँगा।

## 11.2 व्यक्तित्व के रूप

शुक्ल जी निबंधकार हैं, समीक्षक हैं, इतिहासकार (साहित्य का इतिहास लिखनेवाले) और आचार्य हैं। ये चार रूप उनके व्यक्तित्व से जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त वे कवि, संपादक तथा ज्ञान विज्ञान की अन्य शाखाओं पर लिखने वाले लेखक भी रहे हैं। फुटकल रूप में उन्होंने जितना लिखा है, वह सब भी पूरी तरह से प्रकाशित नहीं है। उनकी कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें उनके जीवन काल में नहीं छपीं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उनकी रचनाओं का संपादन कर उन्हें बाद में छापा है। चिन्तामणि भाग 2, रसमीमांसा, सूरदास आदि पुस्तकों का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद हुआ और उनका संपादन आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने किया है। इधर हाल में चिन्तामणि भाग 3 पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसका संपादन डॉ० नामवर सिंह ने किया है और इसका प्रकाशन राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2 से 1983 ई० में हुआ है। उनका कविता संग्रह 'मधुस्रोत' के नाम से पहले नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष 75, अंक 2 संवत् 2027) में छपा और बाद में पुस्तकाकार रूप में सभा से ही उसका प्रकाशन हुआ है। इस समय तो

उनकी सभी पुस्तकों पर विचार नहीं कर पाऊँगा। उनके एक पक्ष पर भी कहने के लिये अधिक समय चाहिए। मैं केवल निबन्धकार, समीक्षक, इतिहासकार और आचार्य से सबंधित रूपों पर तुलनात्मक रूप में कुछ कहूँगा अर्थात् उनके व्यक्तित्व से जुड़े इन चारों रूपों में कौनसा प्रधान है, इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा और यह भी उनकी अपनी रचनाओं में ही। इस तथ्य को यदि मैं रेखांकित करना चाहूँ और उनके व्यक्तित्व से जोड़ूँ तो रेखांकन इस प्रकार होगा—

निबंधकार→समीक्षक→इतिहासकार→आचार्य। मेरी अपनी मान्यता यह है कि मूलतः शुक्ल जी निबंधकार थे। निबंध विधा की दृष्टि से विचार करें तो उस विधा की समस्त विशेषताएँ उनके निबंधों में मौलिक रूप में मौजूद हैं। आरंभ से अन्त तक वे निबंध के विषय का ध्यान रखते हैं। विषय की लीक से हटते नहीं। आरम्भ (परिभाषाओं के साथ), विस्तार, विवेचन, वर्गीकरण (उदाहरण के साथ), विश्लेषण, उपसंहार—सब कुछ उनके निबंधों में इतने ठीक ठीक हैं कि उनके अपने भीतर जो संचित ज्ञान उस विषय से संबंधित था उसे उन्होंने अपने निबंधों में बद्ध कर दिया है। शुक्ल जी के निबंधों में जो पूर्णता पाई जाती है, वह पूर्णता तुलनात्मक रूप में उनकी पुस्तकों में नहीं पाई जाती। पुस्तक की योजना बनाकर, पुस्तक की पूर्णता का विचार करते हुए, उन्होंने प्रायः नहीं लिखा। उनकी लिखी हुई सामग्री को—निबन्धों के रूप में लिखी हुई सामग्री को—बाद में पुस्तकों का रूप दिया गया और फिर पुस्तकों में जोड़ते हुए पुस्तक के रूप में उसे फिर से पुस्तक की पूर्णता के रूप में लिखना संभव नहीं हुआ। चिंतामणि भाग 1, पुस्तक जो निबंध को ही पुस्तक मानी जाती है, संकलन ही है। निबंध ही उसमें हैं। यह उनके जीवनकाल में छपी हुई पुस्तक है।

### 11.3 निबंधकार

आचार्य शुक्ल ने पुस्तक रूप में योजना बनाकर कम लिखा और योजना बनी भी तो बाद में, कुछ पूर्ण हुईं और कुछ अपूर्ण रह गईं। किंतु उन्होंने अपने निबंधों को पूर्णता प्रदान की है। किसी विषय पर लिखते समय उस विषय पर पूर्णता प्रदान करने का उन्होंने सदैव प्रयत्न किया। उन्होंने अपने लेखन को बारबार परिमार्जित किया है और अपनी सामग्री को निबंध रूप में परिपूर्ण बनाया है। चिंतामणि भाग 1 और चिंतामणि भाग 2 की बहुत सी सामग्री रसमीमांसा पुस्तक में मौजूद है रसमीमांसा में कच्ची सामग्री है, उसे आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है किंतु मैं यहाँ पर यह कहना चाहता हूँ कि इस कच्ची सामग्री को निबंध रूप में पूर्णता देकर उन्होंने प्रकाशित किया। कच्ची सामग्री के रूप में या पुस्तक की योजना के रूप में उन्होंने उसे प्रकाशित नहीं किया। संक्षेप में आचार्य शुक्ल का प्रधान बाना निबंधकार का है। उनके निबंध

विषयपरक होते हुए व्यक्तिप्रधान हो गए, इसी में उनके व्यक्तित्व का खरा रूप अपनी मौलिकता में उजागर हुआ है। चिंतामणि भाग 2 के तीनों निबंध अपने अपने विषय में निबंध की दृष्टि से परिपूर्ण हैं। अब यह बात अलग है कि उन निबंधों ने प्रबंध का रूप (विशाल या दीर्घ निबंधों का रूप) ले लिया। इन तीनों निबंधों में भी 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' सबसे बड़ा है। इतना बड़ा निबंध लिखने के लिये बड़ा धैर्य और व्यक्तित्व का बल चाहिए। और फिर देखिए, यह निबंध उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चौबीसवें इंदौर अधिवेशन के लिए लिखा था और साहित्य परिषद् के सभापति पद से पढ़कर भाषण रूप में सुनाया था। श्रोताओं में हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार और चिंतक जैनेंद्रकुमार उपस्थित थे। उन्होंने बाद में लिखा कि शुक्ल जी का भाषण—पढ़कर सुनाया गया भाषण—उनके सिर पर से गुजर गया। बाद में वह निबंध उन्होंने दो-चार बार पढ़ा भी किंतु ऊपर-ऊपर से उड़ गया। पूरी तरह वे निबंध को एक क्रम में, एक बैठक में पकड़ नहीं पाए। इस उदाहरण के माध्यम से मैं यहाँ कहना यह चाहता हूँ कि उन्होंने निबंध रूप को विषय की दृष्टि से परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया और इस विस्तार के कारण उनका यह निबंध आवश्यकता के कारण प्रबंध हो गया।

*प्रायः होता यह है कि लेखक अपनी रचना को ठीक से परिमार्जित नहीं* करते हैं। शुक्ल जी ने अपने निबंधों को परिमार्जित किया है। रसमीमांसा और चिंतामणि भाग 1 और भाग 2 की तुलना करने से ही यह बात प्रमाणित हो जाएगी। 'कविता क्या है?' निबंध पहले बहुत छोटा था। सरस्वती हीरक जयंती के अंक में उक्त निबंध का अंश छपा है। चिंतामणि भाग 1, में वही निबंध संशोधित और विकसित रूप में है। इसी तरह और निबंध भी हैं। उनकी कच्ची सामग्री चिंतामणि भाग 3 में प्रकाशित है। इस सामग्री को उन्होंने संशोधित किया है। शुक्ल जी के ज्ञान और चिंतन में विकास हुआ तो उसके अनुरूप उन्होंने अपने निबंधों को बदला और अपने चिंतन के अनुरूप उसे नया रूप दिया है। यह विशेषता बहुत कम लेखकों में मिलती है। अपने चिंतन को जीवित रखना और तदनुसार विषय को नवीन दीप्ति से युक्त करना उनके निबंध लेखन का विशेष गुण है *और इस मामले में उनकी* मौलिकता *तथा* नवीनता को आज भी नकारा नहीं जाता। निबंधकार के बाद मैं शुक्ल जी के समीक्षक व्यक्तित्व पर कुछ कहना चाहूँगा।

## 11.4 समीक्षक

*आचार्य शुक्ल ने दो पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखी हैं (भूमिकाएँ उनकी और भी हैं यहाँ मैं केवल दो का उल्लेख कर रहा हूँ)—1 पं० वियोगी हरि की* विनयपत्रिका की हरितोषिणी टीका की और 2 महाराज कुमार रघुबीर सिंह के

[बंधों] के संग्रह 'शेष स्मृतियाँ' पुस्तक की। दोनों पुस्तकों की भूमिकाएँ संबंधित पुस्तकों में जिस रूप में प्रकाशित हैं, उन्हें देख जाएँ और उन [भू]मिकाओं के परिमार्जित और संशोधित रूप चिंतामणि भाग 1 में देख जाएँ तो शुक्ल जी के निबंधकार और समीक्षक रूपों की तुलना हो जाएगी। पुस्तकों में जो भूमिकाएँ प्रकाशित हैं, उनमें शुक्ल जी का समीक्षात्मक रूप है और चिंतामणि भाग 1 में जो संशोधित और परिमार्जित रूप है, वह निबंधकार का रूप है। शुक्ल जी ने अपने समीक्षात्मक लेखन को निबंधात्मक रूप दिया है। उनके सारे समीक्षात्मक लेखन को तो निबंधात्मक रूप नहीं दिया जा सका है, किंतु जिस समीक्षात्मक लेखन को उन्होंने निबंधात्मक रूप दिया है, उसके आधार पर ही उनके व्यक्तित्व को पहचाना जा सकता है। परिमाण की दृष्टि से विचार करें तो उनका समीक्षात्मक लेखन निबंधों के परिमाण से अधिक है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की सामग्री ही नहीं उनकी स्वतन्त्र पुस्तकें जो सूर, तुलसी और जायसी पर प्रकाशित हुई हैं, उनमें समीक्षात्मक लेखन अधिक है। उनका पक्का माना निबंधकार का होते हुए भी उनकी लेखन सामग्री के परिमाण को देखते हुए, उन्हें प्रधान रूप से समीक्षक ही माना जाता है? उनपर जो दोषारोपण होते हैं और तरह-तरह से उन्हें नकारने के जो प्रयास हुए हैं और आज भी होते हैं, वह सब उनके समीक्षात्मक लेखन के कारण ही है। निबंधकार के रूप में उन्हें संभवतः पुराना न माना जाय किंतु समीक्षात्मक रूप में वे पुराने हैं, ऐसा बतलाया जाता है। विशेष रूप से उनके पूर्वाग्रहों का विरोध होता रहा है जिनके विस्तार में मैं यहाँ जाना नहीं चाहूँगा।

शुक्ल जी के समस्त लेखन के केन्द्र में समीक्षाएँ प्रधान हैं किंतु समीक्षा रूप में उनकी एक ही पुस्तक 'तुलसीदास' उनके जीवन काल में प्रकाशित हुई। तुलसीदास आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं के प्रतिमान हैं, किंतु तुलसीदास पुस्तक बहुत छोटी है। तुलसी पर उन्होंने उतना श्रम नहीं किया जितना जा[यसी] ग्रंथावली के संपादन और उसकी भूमिका लिखने में किया है। शुक्ल जी ने [जायसी के] कार्य की समीक्षा की दीप्ति जायसी ग्रंथावली की भूमिका में ही दी है। सू[र] में उनका मन अधिक नहीं रमा है। इसके चाहे जो कारण हों, किंतु यह सच्चाई है कि सूरदास पर उन्होंने योजनाबद्ध काम नहीं किया। सूरसागर के संपादन का काम उन्हें नागरी प्रचारिणी सभा ने दिया था किंतु वे उसे पूरा नहीं कर पाए। बाद में उन्होंने संपादन का काम कर भी कर दिया। जो कुछ काम हो गया था और सूरदास उनकी साहित्यिक अभिरुचि में जिस रूप में अनुकूल प्रतीत हुए हैं, उसे उन्होंने 'सूरदास' नाम से लिख डाला है। सूरसागर का संपादन करते करते 'भ्रमरगीतसार' का संपादन कर लिया और उसकी भूमिका भी लिख दी। भ्रमर-गीतसार की भूमिका और स्फुट लेखन को आधार बनाकर आचार्य विश्वनाथ

प्रकाश जिस में बाद में 'सूरदास' पुस्तक का सम्पादन किया। सूरसागर का काम बाद में नन्ददुलारे वाजपेयी ने पूरा किया। तुलसी की समीक्षाओं में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को छोड़ दें तो तीन ही कवि प्रधान दिखाई देते हैं, जिन पर उन्होंने विस्तार से विवेचन करने का प्रयत्न किया। तुलसी पर प्रबन्ध रूप में कम लिखा किन्तु और सब लिखते समय तुलसी को वे भूलते नहीं हैं। इसलिए तुलसी उनके समीक्षात्मक लेखन का प्रधान आधार और उनकी साहित्यिक अभि-रुचि का प्रधान केन्द्र हैं। जायसी पर उनका काम ग्रंथ रूप में अधिक है। इतना काम उन्होंने और किसी कवि पर नहीं किया। चन्द्रबली पांडेय से (जो उनके परम प्रिय शिष्य रहे) सूफी साहित्य पर ही उन्होंने काम करवाया। सूरदास के संबंध में अभी कह ही चुका हूँ। तुलसीदास पुस्तक में उन्होंने सूरदास को उतना याद नहीं किया जितना सूरदास पर लिखते समय तुलसीदास को याद किया है और यही स्थिति जायसी ग्रंथावली की भूमिका के संबंध में भी रही है।

समीक्षक के रूप में जिन तीन प्रधान कवियों को लेकर शुक्ल जी ने लिखा उन सबके संबंध में विवाद होते हुए भी स्थापनाओं में जो नवीनता—बौद्धिक दीप्ति या प्रतिपादन कह लीजिए—विद्यमान थी, उसको स्वीकारा गया है। इसी के आधार पर शुक्ल जी को समीक्षक के रूप में ख्याति मिली भी है। किंतु उतने ही कम से वे सब कवियों पर नहीं लिख सके हैं और सच तो यह है कि लिख भी कैसे सकते थे? सारी देन समीक्षात्मक लेखन 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में है। शुक्ल जी के इतिहास में उनका समीक्षात्मक लेखन प्रधान है। उनकी साहित्यिक अभिरुचि ने कवियों और रचनाकारों की समीक्षाओं को प्रभावित किया है। विद्वान लोग उन्हें यहीं पर पकड़ते हैं और आउट ऑफ डेट कहते हैं, अप्रासंगिक कहते हैं, पूर्वाग्रही कहते हैं और उनके प्रतिमानों को कच्चा प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। कबीर और केशववादी, रीतिकाल के प्रेमी और छायावादी और बाद में और भी समीक्षाओं के जितने दौर चले हैं, वे सब शुक्ल जी से प्रसन्न नहीं हैं। किंतु ऐसा कहते समय वे अपने मन में शुक्ल जी से आतंकित रहते हैं। शुक्ल जी के समीक्षात्मक लेखन की धाक इतनी जबरदस्त है कि उनकी टक्कर में खड़े रहने का साहस वैचारिक धरातल पर उनके समय में छोड़ दीजिए, आज भी किसी में नहीं मिलता है। मेरा कहना यह है कि नकारने वालों को सकारने की सामग्री प्रस्तुत करनी चाहिए। नकारना जितना सरल है, बौद्धिक धरातल पर विकल्पात्मक रूप में सकारने वाली सामग्री को प्रस्तुत करना बहुत कठिन है। शुक्ल जी इतने बलवान हैं कि नकारने वाला उनकी पुस्तकों को पढ़ जाय और ईमानदारी से पढ़ जाय तो अभिभूत हुए बिना—उनकी बौद्धिकता की दाद दिए बिना नहीं रह सकेगा। जब तक विषय पकड़ में नहीं आएगा तब तक उनके व्यक्तित्व को पकड़ना ही कठिन है। शुक्ल जी, आज भी अपनी जगह तमाम

उभार आए हुए हैं। रसमीमांसा से संगृहीत सामग्री उनके आचार्यत्व की तैयारी की सामग्री है। उनके निबंध पढ़कर हम उनके आचार्यत्व को मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। उनकी समीक्षाएँ व्यावहारिक हैं किन्तु आचार्यत्व का मूल आधार ये व्यावहारिक समीक्षाएँ ही हैं। शेष स्मृतियाँ (महाराजकुमार रघुवीर सिंह की पुस्तक) की प्रवेशिका (भूमिका) व्यावहारिक समीक्षा है और रसात्मक बोध के विविध रूप (चिंतामणि भाग 1 का अन्तिम निबंध) उनके आचार्यत्व का प्रमाण रूप है। यह बात अलग है कि आचार्यत्व को उन्होंने शास्त्रीय रूप में कम और निबंध रूप में अधिक लिखा। उनके व्यक्तित्व में दो रूप प्रधान हैं—निबंधकार और आचार्यत्व। इन दोनों रूपों में मूल्यांकन करें तो उनकी नवीनता को पहचाना जा सकता है। इतिहासकार और समीक्षक के रूप में वे पुराने प्रतीत होने पर भी उनके व्यक्तित्व से ये दोनों रूप ऐसे जुड़े हुए हैं कि उन्होंने स्वयं अपने इन दोनों रूपों को निबंधकार रूप में परिमार्जित किया है और वहाँ वे आज भी नवीन हैं।[1]

□□□

## परिशिष्ट-1

# वियोगीहरि कृत हरितोषिणी टीका का परिचय

पं० वियोगीहरि ने विनयपत्रिका की टीका लिखी है। यह टीका हरितोषिणी टीका कहलाती है। इस टीका का 'परिचय' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दिया है। यह परिचय हरितोषिणी टीका के आरम्भ में भूमिका के रूप में है। इसका लेखन काल 5 जनवरी, 1924 ई० है। मेरी सहज जिज्ञासा हुई कि यह 'परिचय' शुक्ल जी ने क्यों लिखा ? क्या पं० वियोगीहरि जी ने इसके लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सम्पर्क किया था ? तदनुसार मैंने पं० वियोगीहरि जी को पत्र लिखा। पत्र का उत्तर मुझे इस प्रकार मिला है—

एफ 13/2 माडल टाउन, दिल्ली-9
दिनांक 3-8-84

प्रिय डा० राजमल,

निबन्ध ही चिन्तामणि भाग 1 मे पढा है, तो वह यह नहीं जान सकता कि यह निबन्ध पहले किसी पुस्तक के परिचय के रूप मे लिखा हुआ भाग रहा है।

परिचय मे प्रकाशित अन्तिम दोनों अनुच्छेद चिन्तामणि भाग 1, के निबन्ध मे नही हैं। इन दो अनुच्छेदों से पहले विनयपत्रिका के कुछ उदाहरण भी कम कर दिये हैं। दूसरी बात यह है कि चिन्तामणि भाग 1—निबन्ध का शीर्षक 'तुलसी का भक्तिमार्ग है'। विनयपत्रिका का परिचय देना और तुलसी का परिचय देना—दोनो मे भेद है। 'हरितोषिणी टीका' के परिचय मे ध्यान 'विनयपत्रिका', उसकी टीका और टीकाकार (प० वियोगीहरि जी) पर रहा है। इस तुलना मे चिन्तामणि भाग 1, के निबन्ध मे ध्यान प्रधान रूप से 'गोस्वामी तुलसीदास के भक्तिमार्ग' पर रहा है। विनयपत्रिका चूँकि तुलसी की भक्ति का प्रधान आधार-ग्रन्थ है। अतः विनयपत्रिका को आधार मानकर 'गोस्वामी तुलसीदास' की भक्ति का विश्लेषण तथा विवेचन शुक्लजी ने चिन्तामणि भाग 1, के निबन्ध मे किया है। सामग्री एक होने पर भी शीर्षक मे परिवर्तन हो जाने के कारण निबन्ध को शीर्षक के अनुसार बदल दिया गया।

परिचय के दोनो अन्तिम अनुच्छेद इस प्रकार हैं—

> "श्रीयुत् वियोगीहरि जी ने यह एक दूसरी विस्तृत और विशद् टीका प्रस्तुत की है। जिस श्रम के साथ उन्होंने इस कार्य को ऐसे गुणाकर्ष से सम्पन्न किया है—उसके लिए वे समस्त हिन्दी पाठकों के धन्यवाद के पात्र हैं। भावार्थ अत्यन्त सुगम और सुबोध रीति से लिखे गए हैं। पद के भीतर आए हुए प्रसगो की कुछ अधिक चर्चा टिप्पणियों मे की गई है। और टीकाकारों से मतभेद के कारण भी इन्ही टिप्पणियों मे दिए गए हैं। सबसे बड़ी विशेषता है स्थान-स्थान पर और और कवियों की मिलती-जुलती उक्तियो का सन्निवेश, जिनके द्वारा पाठक भाव तक पूर्ण रूप से पहुँचने के अतिरिक्त साहित्य-क्षेत्र मे और इधर-उधर देखभाल करने की उत्कण्ठा भी प्राप्त कर सकते हैं। कुछ टीकाकारों के चमत्कारों का भी थोड़ा बहुत नमूना टिप्पणी में कहीं-कहीं मिल जाता है, जैसे 130वें पद में 'राम' शब्द के छ बार आने के तीन कारण। वास्तव मे ऐसी ही टीकाओं की आवश्यकता है जिनसे न तो मूल [illegible] [illegible] और न बनाव की इतनी अधिकता हो कि पाठक देखते ही [illegible]।
> इस टीका में भी [illegible] —वे आवश्यक हैं, [illegible] [illegible]।"[110]

यह सारा अंश चिन्तामणि भाग 1 के निबन्ध के लिए उपयोगी नहीं था। इन पंक्तियों में वियोगी हरिजी का उल्लेख है और यह उल्लेख विनयपत्रिका की टीका के सन्दर्भ में है। ऊपर प० वियोगी हरिजी का पत्र उद्धृत है। उसमें पता चलता है कि प० वियोगीहरि जी का शुक्लजी से विशेष परिचय नहीं था। यह तो प्रकाशक की ओर से सम्पर्क हुआ। शुक्लजी ने वैसे ही दूसरे लेखकों की पुस्तकों की भूमिकाएँ नहीं लिखी हैं। और किसी लेखक का इतना साहस नहीं हुआ कि उनके पास पहुँचकर अपनी पुस्तक की भूमिका लिखवा ले। सच तो यह भी है कि शुक्ल जी को साहित्यिक अभिरुचि में कोई विषय और लेखक मन में बैठ जाता, तो फिर शुक्लजी स्वयं अपनी ओर से भूमिका के लिए पहल कर सकते थे। ऐसा बहुत कम हुआ है। अपनी पुस्तकों की भूमिकाएँ तो उन्होंने लिखी ही हैं। किन्तु दूसरों की पुस्तकों की भूमिकाएँ बहुत कम लिखी हैं। प्रधान रूप से उन्होंने दो व्यक्तियों के पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखी हैं और दोनों में ही दोनों लेखकों ने शुक्लजी से सीधा सम्पर्क नहीं किया है। उन दोनों में एक तो स्वयं वियोगीहरि जी हैं और दूसरा नाम महाराजकुमार रघुवीरसिंह का लिया जा सकता है। वियोगीहरि जी की पुस्तक के लिए तो प्रकाशक ने अनुरोध किया था किन्तु 'शेष स्मृतियाँ' पुस्तक की प्रवेशिका के लिखने का निर्णय शुक्लजी का अपना निर्णय था। शुक्लजी जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 24वें अधिवेशन में इन्दौर गये थे (अप्रैल 1935 ई०), उस समय महाराजकुमार रघुवीरसिंह से स्वयं उन्होंने कहा कि अपने निबन्धों का सकलन कर उन्हें भेज दें तो वे 'प्रवेशिका' लिख देंगे। तदनुसार उन्होंने प्रवेशिका लिखी भी। एक और पुस्तक की भूमिका उन्होंने लिखी है। शुक्ल जी की पत्नी विदुषी थी। शुक्लजी ने जैसे शशांक (बँगला उपन्यास) का अनुवाद हिन्दी में किया। ठीक उसी तरह उनकी पत्नी ने भी कलंकिनी बँगला उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद किया। अपनी पत्नी के इस अनूदित उपन्यास की भूमिका भी शुक्लजी ने लिखी है। यह सन् 1922 ई० की बात है। शुक्लजी के द्वारा अनूदित पुस्तक शशांक की भूमिका तो चिन्तामणि भाग 3, में (डॉ० नामवरसिंह द्वारा सम्पादित) छप गई है किन्तु कलंकिनी की भूमिका उसमें सम्मिलित नहीं है। यह भूमिका मैंने भी कहीं देखी नहीं है। इसका उल्लेख चन्द्रशेखर शुक्ल ने अपनी पुस्तक रामचन्द्र शुक्ल में किया है—पृ० 321। इस उल्लेख के साथ-साथ यह भी लिखा है कि शुक्लजी की पत्नी ने एक और उपन्यास 'धनवाला' का भी हिन्दी में अनुवाद किया था।

गोस्वामी तुलसीदास शुक्लजी की अपनी अभिरुचि के कवि हैं। तुलसी ने शुक्ल को शुक्ल बना दिया है। रामचन्द्र तो थे ये ही। तुलसी की विनयपत्रिका उनकी अपनी प्रिय पुस्तकों में थी। फिर भला वे उसका परिचय क्यों न लिखते? परिचय लिखते समय उनका ध्यान विनयपत्रिका, उसकी टीका और टीकाकार

पर रहा है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने भक्ति का विवेचन भी किया। विनयपत्रिका तुलसी की भक्ति का परिचय देनेवाला प्रधान काव्य है। तुलसी के भक्तिमार्ग का विवेचन विनयपत्रिका को छोड़कर नहीं किया जा सकता। हरितोषिणी टीका के परिचय को जब 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' में परिणत किया, तो उन्होंने रचना का नाम हटाकर कवि का नाम लिख दिया। एक बात और लिख दूँ कि शुक्लजी के निबन्धों का प्रथम वाक्य तथा प्रथम अनुच्छेद बहुत महत्वपूर्ण रहता है। अपने निबन्ध की स्थापना वे प्रथम अनुच्छेद में ही कर देते हैं। बाद के अनुच्छेद उस प्रथम अनुच्छेद के विस्तार में और अपनी स्थापनाओं को पुष्ट करने में वे लिखते हैं। यहाँ पर कुछ विस्तार तो होगा किन्तु शुक्लजी के व्यक्तित्व को समझाने के लिए मैं निबन्ध का प्रथम अनुच्छेद नीचे उद्धृत कर रहा हूँ—

> "भक्ति-रस का पूर्ण परिपाक जैसा तुलसीदास जी/विनयपत्रिका में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलंबन के महत्त्व और अपने दैन्य का अनुभव परम आवश्यक अंग है। तुलसी के हृदय से इन दोनों अनुभवों के ऐसे निर्मल शब्द-स्रोत निकले हैं, जिसमें अवगाहन करने से मन की मैल कटती है और अत्यंत प्रफुल्लता आती है। गोस्वामीजी के भक्ति के क्षेत्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिए मैदान पड़ा हुआ है। वहाँ जिस प्रकार लोक व्यवहार में से अपने को अलग करके आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होनेवाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं से बहुत दूर रहने का मार्ग पा सकते हैं, उसी प्रकार लोक-व्यवहार में मग्न रहनेवाले अपने भिन्न-भिन्न कर्तव्यों के भीतर ही आनन्द की वह ज्योति पा सकते हैं जिससे इस जीवन में दिव्य जीवन का आभास मिलने लगता है और मनुष्य के वे सब कर्म, वे सब वचन और वे सब भाव—क्या डूबते हुए को बचाना, क्या अत्याचारी पर शस्त्र चलाना, क्या स्तुति करना, क्या निन्दा करना, क्या दया से आर्द्र होना, क्या क्रोध से तमतमाना—जिनसे लोक का कल्याण होता आया है, भगवान् के लिए लोक-पालन करनेवाले कर्म, वचन और भाव में दिखाई पड़ते हैं।"[13]

हरितोषिणी टीका का परिचय तथा चिन्तामणि भाग 1, के 'तुलसी का भक्तिमार्ग' निबंध—दोनों स्थानों पर यह प्रथम अनुच्छेद एक समान है। दो स्थानों पर अन्तर दिखलाई देगा। प्रथम वाक्य में परिचय में 'विनयपत्रिका' है और दूसरे स्थान पर तुलसीदासजी है। परिचय में रेखांकित शब्द 'वहाँ' नहीं है। यह शब्द 'जिस प्रकार ....' से पहले जोड़ दिया गया है। दूसरे अनुच्छेद में केवल एक स्थान पर परिवर्तन किया है—विनयपत्रिका के स्थान पर गोस्वामीजी शब्द

अनुच्छेद में कोई परिवर्तन नहीं है। वाक्य-ज्ञान···से सम्बन्धित उदाहरण और उसके आगे के तीन अनुच्छेद भी वैसे ही हैं। 'सुनि सीतापति सील सुभाउ···' पद शुक्लजी का प्रिय उदाहरण है। उस पद के आगे के दोनों वाक्य भी वैसे ही हैं। यहाँ आकर शुक्लजी ने चिन्तामणि भाग 1, के निबन्ध में नया अंश जोड़ दिया है। नई पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> "अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य के बीच से अनन्त शील की आभा फूटती देख जिसका मन मुग्ध न हुआ, जो भगवान् की लोकरंजन मूर्ति के मधुर ध्यान में कभी लीन न हुआ, उसकी प्रकृति की कटुता बिलकुल नहीं दूर हो सकती।
>
> सूर, सुजान, सपूत, सुलच्छन, गनियत गुन गरुआई।
> बिनु हरिभजन इंदारुन के फल, तजत नहीं करुआई॥···[131]

उसके बाद के अनुच्छेद में कोई परिवर्तन नहीं। परिचय में विनयपत्रिका रेखांकित है और उससे पूर्व 'यह' लिखा गया है। निबन्ध में 'यह' शब्द हटा दिया गया है और विनयपत्रिका को रेखांकित नहीं रखा गया है। इसके आगे का क्रम ठीक समान है। और यह समानता 'भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं रह जाता···' अनुच्छेद तक है। इस अनुच्छेद के अन्त में वाक्य इस प्रकार है—"वह शक्ति, सौंदर्य और शील के अनन्त समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है।" —यहाँ तक विशेष परिवर्तन नहीं है। बीच में केवल एक वाक्य—'इस अवस्था के पद इस ग्रन्थ में बहुत अधिक हैं'[132]—हटा दिया गया है।

ध्यान से देखने पर और तुलना करने पर बात सहज ही स्पष्ट हो जायेगी कि शुक्लजी अपने निबन्ध के शीर्षक के प्रति बहुत सचेत रहते हैं और तदनुसार सामग्री न बदलते हुए संशोधन कर देते हैं। वह व्यक्ति से रचना पर और रचनाकार से रचयिता पर—वियोगीहरि की हरितोषिणी टीका से, विनयपत्रिका पर और विनयपत्रिका से गोस्वामी तुलसीदास पर—सहज ही चले आते हैं। शुक्लजी के किसी भी निबन्ध का प्रथम अनुच्छेद उनके निबन्ध का प्राण होता है। शुक्लजी किसी भी विषय को विषय रूप में स्वीकार कर उस विषय को सामान्य बनाकर —सामान्यीकरण करके—कहने में कुशल हैं। उनके निबन्ध को (इसी निबन्ध को) ध्यान से देखें, तो वे सामान्य कथन पहले करेंगे बाद में विशेष की ओर अग्रसर होंगे। विशेष तो उनके सामान्य कथन का उदाहरण होता है। उनका प्रथम वाक्य है—"भक्ति-रस का पूर्ण-परिपाक जैसा तुलसीदासजी में देखा जाता है, वैसा अन्यत्र नहीं।" पहला ही वाक्य सीधे निबन्ध के शीर्षक का स्पष्ट उत्तर है। उनका ध्यान भक्ति पर (भक्ति-रस पर) केन्द्रित है। पहले अनुच्छेद में भक्ति का—वह भी तुलसी की भक्ति का—स्वरूप समझाने का प्रयत्न है। भक्ति के

पर और आगे चलकर यह निस्संग साधक को सब भेदों से परे ले जाता है।"[134]

इस अनुच्छेद के बाद के तीनों ही पृष्ठ चिन्तामणि भाग 1, के निबन्ध में नहीं हैं। बात यह है कि सामान्य रूप में शुक्लजी भक्ति-मार्ग के सम्बन्ध में इस अनुच्छेद तक सब कुछ कह देते हैं। बाद में तो विनयपत्रिका से उदाहरण देना शेष रह गया और विनय पत्रिका के सम्बन्ध में कहते-कहते हरितोषिणी टीका पर कहना रह गया था। तुलसी से विनयपत्रिका पर और विनयपत्रिका से हरितोषिणी टीका पर और टीका से फिर श्रीयुत वियोगी हरि के सम्बन्ध में कहकर शुक्लजी ने अपना परिचय पूर्ण किया। शुक्लजी निबन्ध लिखते समय अपना ध्यान विषय पर केन्द्रित रखते हैं। विषय की लीक से वे हटना नहीं चाहते। विषय के साथ व्यक्ति आ तो जाता है किन्तु उसे विषय बोध के बाद में ही पहचाना जा सकता है। हरितोषिणी टीका के परिचय में व्यक्ति आया है किन्तु चिन्तामणि भाग 1, के निबन्ध में व्यक्ति उस रूप में नहीं है। न तो रचना (विनयपत्रिका) प्रधान है। और न ही रचना की टीका (हरितोषिणी टीका) प्रधान है। दोनों से तुलसी ही अधिक प्रधान हो गये हैं। परिचय में वियोगी हरि का नाम बहुत बाद में आता है। बाद में क्या—अन्त-अन्त में है। और यह नाम भी व्यक्ति को विषय से जोड़ते हुए आया है।

शुक्लजी का लेखन प्रतिबद्धता का लेखन है और परिमाण में फुटकल अधिक है। उनके लेखन को पुस्तकाकार रूप बहुत बाद में प्राप्त हुआ। पुस्तक की योजना में रखकर उनका लेखन कम हुआ है। सम्पादन, इतिहास, समीक्षा, अनुवाद, परिचय, भूमिकाओं आदि से सम्बन्धित लेखन प्रतिबद्धता का लेखन ही होता है। इस लेखन के दायित्व का निर्वाह करते हुए उन्होंने अपना लेखन कार्य जारी रखा है। किन्तु जो लिख लिया उसको उन्होंने निबन्धों में परिणत किया है। उनके फुटकल लेखन ने निबन्ध के रूप में परिपूर्ण रूप प्राप्त किया है। हरितोषिणी टीका का परिचय चिन्तामणि भाग-1, में निबन्ध का आकार ग्रहण कर गया है।

सितम्बर 1985 अंक मे प्रकाशित हुआ है। उसी अक मे पक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। पृ० सं० 3।

10. वही, पृ० 4।
11. वही, पृ० 5।
12. रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ० 214-215-216।
13. वही, पृ० 315
14. आलोचना-74, जुलाई सितम्बर 1985, वीर भारत तलवार, द्वारा लिखित लेख—'राष्ट्रीय आन्दोलन और रामचन्द्र शुक्ल [असहयोग और व्यापारिक श्रेणियाँ—के विश्लेषण का प्रयास] पृ० 7
15. आचार्य शुक्ल के पुत्र गोकुलचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—
"शुक्लजी ने प्राचीन साहित्य से अर्वाचीन साहित्य तक का पूरा आलेख तैयार करके [इतिहास संशोधित करके] प्रेस मे भेज दिया। वह सामग्री प्रेस से किसी तरह लापता हो गई। शुक्लजी दमा के मरीज थे, इसलिए वह लेटे-लेटे तकिया के ऊपर कागज रखकर पेंसिल से लिखा करते थे। टाइप की सुविधा नहीं थी, इसलिए वही कागज सीधे प्रेस मे चला जाता था। दूसरी कापी न होने से एक बार का लिखा हुआ यदि किसी तरह से गायब हो जाता तो उन्हें दूसरी बार वही लिखना पडता। वह सस्करण सभा से बहुत जल्दी निकलना था, इसलिए शुक्लजी को जब आलेख दूसरी बार तैयार करना पड़ा, तब उन्होंने पुराने कवियों पर थोड़ा-थोड़ा लिख डाला किन्तु नए लेखकों और कवियों पर सामग्री नहीं तैयार कर सके। सभा ने इसी तरह के अपने वक्तव्य के साथ यह सस्करण निकाल दिया। अब शुक्लजी दुबारा लिखने लगे। निराला, महादेवी, पत, दिनकर, नवीन, भारतीय आत्मा आदि अपना पूरा साहित्य दे गए थे। नए लेखक अपनी किताबें दे गए थे। शुक्लजी ने सब की विवेचना बनारस और मिर्जापुर मे बैठ कर लिख डाली। यह सब आलेख वे प्रेस में भेजनेवाले थे। तभी उन्हें दो दिन के आवश्यक कार्यवश मिर्जापुर जाना पड़ा। जल्दी-जल्दी में सारी सामग्री मेज पर ही छोडकर चले गए। घर मे एक अल्पवयस्क नौकर विन्ध्याचल था। उसने समझा कि यह सब रद्दी पड़ी है। अखबार बेचते समय उसने वह सब बेच दिया और उस पैसे से मिठाई खा ली।...... वे अब तीसरी बार अद्यतन विशद विवेचना मे लग गए। दूसरे कई नए कवियों और लेखकों ने अपनी किताबें उन्हें समर्पित कीं। अब तक उनके शिष्यों ने भी कुछ कविताएँ एव कुछ प्रबन्ध लिख लिए थे। शुक्लजी ने मुझसे कहा कि इस बार इन सबको शामिल कर रहा हूँ। नए लोगों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। उन्होंने लगभग डेढ़ सौ पृष्ठ लिख डाले। प्रतिदिन करीब पन्द्रह पृष्ठ लिखते थे। दिसम्बर की छुट्टियों में मैं

# परिशिष्ट-2
## संदर्भ एवं टिप्पणी

**1 इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल**

1. रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रशेखर शुक्ल, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी-1, प्रथम संस्करण, संवत् 2019, पृ० 157 से 163 तक।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नगरी प्रचारिणी सभा, सोलहवाँ संस्करण, संवत् 2009, वक्तव्य, पृ० 1.
3. रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ० 168।
4. इतिहास की नियति—शुक्लजी, श्री गोकुलचन्द्र शुक्ल/शीर्षक लेख से, हिन्दुस्तानी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विशेषांक, जुलाई-दिसम्बर 1983 ई० भाग 44, अंक 3-4, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहबाद, पृ० 128।
5. रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ० 175।
6. चिन्तामणि भाग-3, रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक : नामवरसिंह, राजकमल प्रकाशन, 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, उक्त पुस्तक के अन्त मे 'अठाइसवाँ अखिल भारतीय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, साहित्य परिषद, स्वागताध्यक्ष का भाषण छपा है। उक्त भाषण से, पृ० 276।
7. इतिहास क्या है? मूल लेखक : ई० एच० कार, अनुवादक : दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली 1976, पृ० 78।

25. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य, पृ० 21
26. वही, वक्तव्य, पृ० 2 और 3।
27. वही, पृ० 5
28. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल नामकरण किया। डॉ० रसाल ने बाल्यकाल कहा, राहुल जी ने सिद्ध-सामंतकाल कहा, डॉ० रामकुमार वर्मा ने चारणकाल कहा, इस सबका विस्तृत विवेचन डॉ० विजय शुक्ल ने किया है।
—साहित्येतिहास सिद्धान्त एव स्वरूप, डा० विजय शुक्ल, प्रथम सस्करण, 1978, पृ० 60-61 तथा 62.
29 रीतिकाल के अनेक नाम नामकरण हैं—मनोरञ्जनकाल, अलंकारकाल, शृंगारकाल, कलाकाल, आदि। इस सम्बन्ध मे डॉ० विजय शुक्ल की पुस्तक देखिए। पृ० 67-68।
30 हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 6 (वक्तव्य)
31. वही, पृ० 6 और 7 (वक्तव्य)

4 वीरगाथा काल : परम्परा और परम्परा

32 दूसरी परम्परा की खोज, डॉ० नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष रोड, नयी दिल्ली-110002, प्रथम सस्करण 1982, पृ० 18 और 19।
33. वही, पृ०19.
34 वही, पृ० 19.
35. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, सस्करण 1979 ई०, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002,—पृ० 13
36. वही, पृ० 37।
37 वही, पृ० 37 और 38।
38. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली-110002, प्रथम सस्करण 1973 ई०, पृ०184 से 207.
39. वही, पृ० 186 और 187.
40. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 35।
41. दूसरी परम्परा की खोज, डॉ० नामवरसिंह, पृ० 19 और 20।
42 वही, पृ० 20।

[illegible] मालूम हो पा रहा है। अब मैं सभा से [illegible] ही लेकर यह संस्करण भी प्रकाशित कर दिया। यह इतिहास उसी रूप में प्रकाशित हो गया जिसे शुक्लजी अधूरा छोड़ गये थे।"

—हिन्दुस्तानी, जुलाई-दिसम्बर 1953 ई० भाग 44, अंक 3-4, हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद पृ० 129-130।

2. इतिहास के तथ्य

15 इतिहास क्या है ?, ई० एच० कार, अनुवादक : अशोक चक्रधर, पृ० 19।

16 *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य से (प्रथम संस्करण के)।

17 मिश्रबन्धु और उनका साहित्य, श्रीमती रमादेवी शुक्ल, [मराठवाड़ा विश्व विद्यालय, औरंगाबाद द्वारा पी-एच. डी के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध *1984 ई०*]-प्रस्तुत प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में तालिका दी गई है। पृ० सं० 137 से 264, [*प्रबन्ध अप्रकाशित है, टंकित प्रति की पृ० सं० दी गई है*]

18 वही, अध्याय तृतीय, पृ० सं० *114 से 120 तक*

19 हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 29,

20 वही, प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० 2।

21. वही, प्रथम सस्करण का वक्तव्य, पृ० 2।

22 वही, पृ० सं० 8।

23. इतिहास क्या है ? ई० एच० कार, अनुवादक अशोक

3. काल विभाजन

24. साहित्य सिद्धान्त, रेनेवेलेक आस्टिन वारेन, अनुवादक पालीवाल, लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मा प्रथम सस्करण, पृ० 344।

59. वही, पृ० 76।
60. वही, पृ० 77।
61. रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रशेखर शुक्ल, प्रथम संस्करण, संवत् 2019, चन्द्रभूषण मिश्र, वाणीवितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी-पृ० 265.
62. वही, पृ० 267-268
63. वही, पृ० 265
64. रस-मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक . आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, संवत 2011, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० 189।

7. क्षितिज और अन्तराल के कवि

65 इतिहास क्या है ? ई० एच० कार, अनुवादक . अशोक चक्रधर पृ० 3
66 हिन्दी साहित्य का उद्भवकाल, डॉ० वासुदेवसिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1973 ई० पृ० 231 से 245।
67. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 57.
68 खालिक बारी (अमीर खुसरो कृत), सम्पादक डॉ० श्रीराम शर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण संवत् 2021, भूमिका, पृ० 5।
69 हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 92.
70. वही, पृ० 92.
71. दूसरी परम्परा की खोज, डॉ० नामवर सिंह, अस्वीकार का साहस, पृ० 43 से 56।
72. चिन्तामणि भाग 2, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक; आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चतुर्थ आवृत्ति, संवत् 2014, सरस्वती मन्दिर, जतनपर, वाराणसी, पृ० 22।
73 हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 231।
74. इतिहास : एक प्रवचना, ई० एच० डान्स, अनुवादक . बलभद्रप्रसाद मिश्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1967 ई० पृ० 91।
75. वही, पृ० 91।
76. वही, पृ० 91।
77. इतिहास क्या है ? ई० एच० कार, अनुवादक : अशोक चक्रधर पृ० 10।
78. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 59।

43 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, डॉ० रामविलास
पृ० 45।
44 वही, पृ० 50 से 66।
45. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 36 और 37

5 भक्तिकाल : साहित्यिक अभिरुचि और समीक्षा

46 गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा अष्टम संस्करण, संवत् 2019, संशोधित संस्करण के वक्तव्य से।
47. हिन्दी अनुसन्धान का स्वरूप, स०भ०ह० राजूरकर, राजमल बोरा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1978 ई०, डॉ० नगेन्द्र के निबन्ध 'अनुसंधान और आलोचना' से पृ० 112।
48 जायसी ग्रंथावली, सम्पादक : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, संवत् 2007, वक्तव्य, पृ० 1 से।
49. रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ० 216.
50 भ्रमरगीतसार, सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, उपसम्पादक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, अष्टम संस्करण, संवत् 2014, रामदास गौड़वान एण्ड सन्ज, साहित्य सदन बनारस, वक्तव्य से।
51. वही, भूमिका, पृ० 56।
52 साहित्य-सिद्धान्त, रेनेवेलेक, आस्टिन वारेन, अनुवादक बी०एस० पालीवाल पृ० 335।
53 डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी का आलेख 'हिन्दी समीक्षा का सत्व और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद में 31 अक्तूबर 1985 को पठित)-पृ० 2।
54 वही, आलेख की अन्तिम पंक्तियां

6 भक्ति आन्दोलन का सौंदर्यशास्त्र

55 चिन्तामणि भाग 1, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 1962 ई० में प्रकाशित संस्करण, इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग, पृ० 27.
56 वही, पृ० 31।
57. वही, पृ० 42-43।
58. सूरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक - आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पंचम संस्करण, सन् 1961 ई०, सरस्वती मंदिर, जतनबर, वाराणसी, पृ० 72-73

ही, पृ० 76।
ही, पृ० 77।
रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रशेखर शुक्ल, प्रथम संस्करण, संवत् 2019, चन्द्रभूषण मिश्र, वाणीवितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी-पृ० 265.
वही, पृ० 267-268.
वही, पृ० 265
रस-मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, संवत 2011, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० 189।

तिज और अन्तराल के कवि

इतिहास क्या है ? ई० एच० कार, अनुवादक : अशोक चक्रधर पृ० 3.
हिन्दी साहित्य का उद्‌भवकाल, डॉ० वासुदेवसिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1973 ई० पृ० 231 से 245।
हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 57.
खालिक बारी (अमीर खुसरो कृत), सम्पादक डॉ० श्रीराम शर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण संवत् 2021, भूमिका, पृ० 5।
हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 92
वही, पृ० 92.
दूसरी परम्परा की खोज, डॉ० नामवर सिंह, अस्वीकार का साहस, पृ० 43 से 56।

8. रीतिकाल : ऐतिहासिक अवधारणा

79. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 5 म [वक्तव्य
80 वही, पृ० 208।
81 वही, पृ० 234।
82. वही, पृ० 250-251।
83. हिन्दी साहित्य का अतीत, दूसरा भाग, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, व वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, द्वितीय संस्करण संवत् 2029, 388।
84. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, ना प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् 2015, पृ० 163-164
85 वही, पृ० 164।
86. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य, पृ० 6।
87. वही, पृ० 237।
88 वही, पृ० 237।
89 रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या, डॉ० महेन्द्रप्रताप सिं प्रथम संस्करण 1977 ई०, पटल प्रकाशन, के-46, कैलाश कालोनी, न दिल्ली-110048, पृ० 215।
90. वही, पृ० 215-216।
91. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० 237।
92 वही, पृ० 237।
93 वही, वक्तव्य पृ० 6।
94. हिन्दी साहित्य का अतीत, दूसरा भाग, शृंगार काल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 611 और 612।
95 हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 322।
96. वही, पृ० 322-323।
97 वही, पृ० 323।
98 वही, पृ० 324।
99. वही, पृ० 324।
100. वही, पृ० 324।
101. वही, पृ० 324।
102. वही, पृ० 322।
103 वही, पृ० 192।

104. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, सम्पादक : डॉ० नगेन्द्र, पृ० 546।
105 वही, पृ० 548।
106. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 324।
107. वही, पृ० 324।

9 रीतिकाल और आधुनिक काल

108 "सवत् 1900 अर्थात् 1844 ई०के आसपास रीतिकालीन काव्यधारा अत्यन्त लोकप्रिय होने के साथ समस्त उत्तर भारत की भाषाओं के बीच सम्पर्क स्थापित करनेवाली साहित्य भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित रही है। अत. इसीके आसपास रीतिकाल की समाप्ति घोषित कर देने से इतिहास पुरुष को जीवित रूप में ही जल समाधि दे दी गई है।"—रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या, डॉ० महेन्द्र प्रताप सिंह, पृ० 212।
109. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 238-239।
110. हिन्दी वीरकाव्य [1600-1800 ई०] सर्वेक्षण, वर्गीकरण तथा मूल्यांकन, राजमल बोरा, नमिता प्रकाशन, 5, मनीषा नगर, केसरसिंह पुरु, औरंगाबाद 431005, प्रथम सस्करण, 1979 ई,० पृ० स० 229 से 233 तक।
111 शाहजहाँनामा, [मुंशी देवीप्रसाद कृत), सपादक : डॉ० रघुबीरसिंह और डॉ० मनोहर सिंह राणावत, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1975 ई० पृ० 320।
112 वही, पृ० 138।
113 डॉ० मनमोहन सहगल, पटियाला से टकित आलेख (3 अप्रैल, 1986 को) प्राप्त हुआ। आलेख का शीर्षक 'पजाब में रचित हिन्दी रीतिकाव्य' है। डॉ० सहगल 'राष्ट्रीय व्याख्यानमाला योजना के अन्तर्गत' मराठवाडा विश्वविद्यालय आये थे। विभाग में उन्होने इस विषय पर व्याख्यान भी दिया था। रीतिकालीन (पंजाब मे उपलब्ध) सामग्री को नये सिरे से प्रस्तुत करने की उनकी योजना है।
114. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 422 तथा 423।
115. रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ० 48।
116 हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी 1958 ई० मे प्रकाशित संस्करण, इण्डियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ० 55।

* रीतिकाल : ऐतिहासिक अवधारणा

79 हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 5 और 6 [वक्तव्य से]

80 वही, पृ० 203।

81 वही, पृ० 234।

82 वही, पृ० 230-231।

83. हिन्दी साहित्य का अतीत, दूसरा भाग, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, द्वितीय संस्करण संवत् 2029, पृ० 383।

84. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् 2015, पृ० 163-164।

85. वही, पृ० 164।

86. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य, पृ० 6।

87 वही, पृ० 237।

88 वही, पृ० 237।

89 रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या, डॉ० महेन्द्रप्रताप सिंह, प्रथम संस्करण 1977 ई०, पटल प्रकाशन, के-46, कैलाश कालोनी, नई दिल्ली-110048, पृ० 215।

90. वही, पृ० 215-216।

91. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० 237।

92 वही, पृ० 237।

93 वही, वक्तव्य पृ० 6।

94. हिन्दी साहित्य का अतीत, दूसरा भाग, शृंगार काल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 611 और 612।

95 हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 322

96. वही, पृ० 322-323।

97. वही, पृ० 323।

98 वही, पृ० 324।

99. वही, पृ० 324।

100 वही, पृ० 324।

101. वही, पृ० 324।

102. वही, पृ० 322।

103. वही, पृ० 192।